हिन्दी साहित्य विमर्श

प्रकाशक—

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
१२६, हरिसन रोड, कलकत्ता

प्रकाशक:—
बैजनाथ केडिया
प्रोप्राइटर
हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
१२६, हरिसन रोड कलकत्ता।

निवेदन
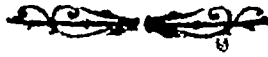
आज हम अपने सहृदय पाठकोंके सम्मुख एक ऐसी पुस्तक रखते हैं, जिसकी हिन्दी-साहित्यमें बहुत आवश्यकता थी।

आलोचना ही साहित्यकी श्रीवृद्धिका एकमात्र उपाय है। जिस साहित्यमें समालोचनाकी जितनी कमी होगी, उस साहित्यकी उतनीही हीनता समझी जायगी। किसी भाषाकी उन्नतिके लिये यह बहुत ही आवश्यक है कि उस भाषाकी काफी समीक्षा की जाय और उसके लेखकों, पाठकों और प्रकाशकोंकी रुचिकी सच्ची समालोचना खुले दिलसे की जाय।

'हिन्दी-साहित्यविमर्श' के लेखक हिन्दी-साहित्यके मर्मज्ञ विद्वान् "सरस्वती" सम्पादक श्रीयुक्त पदुमलाल पुन्नालालजी बख्शी हैं। आपके इन निबंधोंसे हिन्दी-साहित्यके विकाशपर काफी रोशनी पड़ेगी। इसमें हिन्दी-साहित्यके प्राचीन और अर्वाचीन लेखकों और कवियोंकी आलोचना बड़े मार्मिक ढगसे की गयी है। हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, भाषाके विकास तथा उसकी स्थिरताके सम्बंधमें पश्चिमीय तथा पूर्वीय विद्वानों-

की क्या राय है, उसका हिन्दी-भाषाके इस नि...
कहांतक पालन किया जाता है, आधुनिक गद्य-पद्य-लेख
तथा शुभचिन्तकोंने कहांतक पालन किया है, इसपर
विचार किया गया है।

हिन्दी-भाषाके शुभचिन्तकोंमें इस समय कई दल...
कोई तो उसे व्याकरणके पाशमें सदा बांधे रहना चाहते हैं,...
उसे स्वच्छन्द घूमने और विचरण करनेकी अनुमति देते...
कोई केवल संस्कृत भाषाकी सहायतासे ही उसकी उन्नति स...
झते हैं और कोई उसके भाण्डारको सब भाषाओंकी ...यता...
भरना चाहते हैं। इसी तरहसे विद्वानोंमें कई विषयोंपर ...
भेद है। इसी प्रकारके प्रायः सभी विवादपूर्ण प्रश्नोंपर वि...
लेखकने बड़ी योग्यतासे समीक्षा की है।

आशा है कि हमारे प्रेमी पाठकगण हमारी अन्य प्रका
शित पुस्तकोंकी तरह इसका भी आदर करेंगे।

विनीत—

प्रकाशक

समर्पण

पण्डित विनायक विश्वनाथ वैद्य

एम० ए०, एल० एल० बी०

के

करकमलोंमें

पदुमलाल बख्शी

हिन्दी साहित्य विमर्श

हिन्दी-पुस्तक एजेन्सी माला सख्या—४१

छप गयी ! छप गयी !! छप गयी !!!

धनकुवेर कारनेगी

यह पुस्तक धनकुवेर कारनेगीका जीवन चरित्र है। किस प्रकार एक जुलाहेका बच्चा मजदूरीका काम करके अन्तमें धनकुवेर बना, इसका पूरा विवरण दिया है। यह पुस्तक विशेषतः नवयुवकोंके लिये अधिक उपयोगी है।

हिन्दी-साहित्य-विमर्श

(१)

प्रस्तावना

भाषा और साहित्यका पारस्परिक विच्छेद नहीं हो सकता। वाणी और अर्थ सदैव संयुक्त ही रहेंगे। भाषा हमारे पूर्वजोंकी अर्जित सम्पत्ति है। उसीके द्वारा हम अपने पूर्वजोंके संगृहीत ज्ञानका उपार्जन कर सकते हैं। अतएव हमें इस सम्पत्तिकी रक्षा सदैव यत्नपूर्वक करनी चाहिए। परन्तु यह सम्पत्ति ऐसी नहीं है कि हम इसे कोषमें सुरक्षित रख सकें। यदि हम अपनी भाषाकी वृद्धि नहीं कर सकते तो उसकी रक्षा करना भी हमारे लिये असम्भव है।

संसार परिवर्त्तनशील है, क्योंकि वह उन्नतिशील है। स्थिरता जड़त्वका सूचक है। जो जड़ नहीं वे जङ्गम हैं, उनकी गति अवरुद्ध नहीं होती। मानव-जीवनका जो स्रोत अनादि-कालसे बह रहा है वह उद्देश्य-हीन नहीं है। वह किसी एक लक्ष्यकी ओर जा रहा है। अबतक असंख्य मनुष्य इस स्रोतमें बहकर कालके अनन्त गर्भमें लीन हो गये हैं। परन्तु वे इस स्रोतमें अपना चिह्न छोड़ गये हैं। उनके मत और विचार

भाषाके रूपमें अभीतक वर्तमान हैं। अनन्तकालसे मनुष्य अपने भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए चेष्टा करते आ रहे हैं। हमारी वर्तमान भाषा उसीका परिणाम है। मनुष्यके साथ भाषाकी उत्पत्ति हुई है और उसीके साथ उसका विकास हुआ है। भाषाको हम भावसे पृथक् नहीं कर सकते। इसीलिए किसी भी भाषाकी उत्पत्तिका विचार करते समय हमें उन भावनाओंपर ध्यान देना होगा जिनके कारण उस भाषाका स्वरूप स्थिर हुआ है।

भाषामें परिवर्तन अवश्यम्भावी है, क्योंकि उसका सम्बन्ध जीवित मनुष्य-समाजसे है। सभी देशोंमें और सभी कालोंमें भाषामें परिवर्तन होते रहते हैं। यह परिवर्तन किसीकी इच्छापर निर्भर नहीं है। आर्योंकी जो प्राचीन वैदिक भाषा शताब्दियोंके परिवर्तनके बाद आधुनिक हिन्दीके रूपमें परिणत हुई हैं वह किसी मण्डली अथवा परिषद्के कारण नहीं। यह सच है कि जब भाषा साहित्यिक हो जाती है तब उसमें परिवर्तन नहीं होते। परन्तु सर्वसाधारणसे सम्पर्क न रखनेपर सभी साहित्यिक भाषायें मृत हो जाती हैं। हिन्दी भाषाकी उत्पत्ति भाषा-विकासका फल है। विद्वानोंकी राय है कि वैदिक युगकी प्रचलित भाषाओंमें एकने विशेष उन्नति की। वह विद्वानोंकी, शिष्टोंकी, भाषा हो गयी। वही संस्कृत है। उसमें श्रेष्ठ साहित्यकी रचना हुई। शिष्ट-भाषा होनेसे संस्कृतकी श्री-वृद्धि अवश्य हुई, पर अन्य ग्राम्य भाषाओंका प्रचार बढ़ता

गया। अन्तमें उन्हीं प्राकृत भाषाओंसे संस्कृत दब गयी। वे प्राकृत भाषायें भी साहित्यिक हुईं। परन्तु सर्वसाधारणकी भाषाका विकास होता ही गया। उससे अपभ्रंश भाषाओंकी उत्पत्ति हुई। उन्हींमें एकसे हिन्दीकी उत्पत्ति हुई। आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें जिस भाषाका प्रयोग किया जाता है वह सर्व-साधारणकी भाषाओंसे सम्बन्ध रखती है। परन्तु अभी उसका रूप स्थिर नहीं हुआ है। अतएव हिन्दीमें अभीतक एक बड़ी समस्या भाषाकी है।

भाषाकी उन्नतिका सबसे बड़ा अवरोधक है उसकी परा-धीनता। हिन्दीमें भाषाकी जो समस्या विद्यमान है उसका प्रधान कारण यह है कि वह अभीतक पराधीनताके पाशसे मुक्त नहीं हुई है। जैसे देशकी समृद्धिके लिए स्वराज्यकी आवश्यकता है वैसे ही साहित्यकी उन्नतिके लिए भाषाका भी स्वराज्य आवश्यक है। जब कोई जाति किसी देशको अपने दासत्व बन्धनमें रखना चाहती है तब वह उस देशके राजनैतिक स्वत्वोंका तो अपहरण करती ही है, साथ ही वह उस देशकी भाषाका स्वराज्य भी छीन लेती है। तब विजेता-जातिकी ही भाषा देशकी प्रधान भाषा हो जाती है। इसका एक परिणाम यह होता है कि परा-धीन जातिकी भाषापर विजेता-जातिकी भाषाका प्रभाव पड़नेसे विशृङ्खलता आ जाती है। इसको दूर कर अपने जन्म-सिद्ध अधिकारोंको प्राप्त करना ही भाषाका स्वराज्य प्राप्त करना है।

भाषा राष्ट्रीयताका चिह्न है। अतएव हिन्दी- भाषामें हिन्दू-

जातिकी राष्ट्रीयता स्थिर कर उसकी विशेषताको अक्षुण्ण बनाये रखना चाहिए। उसे इस योग्य बना देना चाहिए कि देशकी समस्त भावनायें उसीमें व्यक्त हों। हमें अपने धर्म, इतिहास, विज्ञान अथवा राजनीतिको समझनेके लिए किसी अन्य भाषाकी ओर न ताकना पड़े। यही भाषाका स्वराज्य है। विदेशी भाषाओं और साहित्योंके पराधीनता-पाशसे सहसा कोई भी भाषा मुक्त नहीं हुई। अपना स्वराज्य स्थापित करनेके लिए प्रत्येक भाषा क्रमशः तीन अवस्थाओंको अतिक्रमण करती है। तभी उसकी विशेषता परिस्फुट होती है। पहली अवस्थामें उसको किसी मृत भाषाका प्रभाव दूर करना पड़ता है। भाषा मृत तभी होती है जब वह देशकी समस्त भावनाओंको स्पष्ट करनेमें असमर्थ होती है। तब उसका क्षेत्र सङ्कुचित हो जाता है और वह थोड़े ही लोगोंकी सम्पत्ति हो जाती है। तब वह देशकी प्रचलित भाषा न होकर सिर्फ़ साहित्यिक भाषा रह जाती है। दूसरी अवस्थामें भाषाको विदेशी भाषाओंके संसर्गज दोषोंको निर्मूल करना पड़ता है। तीसरी अवस्थामें वह अपनी ही कृत्रिमताको दूरकर स्वाभाविक रूप ग्रहण करती है। सभी भाषाओंके इतिहासमें भाषाके विकासके लिए यही तीन सोपान हैं।

योरोपमें एक हजार वर्षतक लैटिन ही साहित्यकी भाषा थी। विज्ञान, दर्शन, धर्मशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि सभी विषय लैटिन-भाषामें ही लिखे जाते थे। सर्वसाधारणके मनोविनोदके लिए प्रचलित भाषामें तरह तरहकी कहानियाँ और

कवितायें अवश्य लिखी जाती थीं। परन्तु शिक्षित-समाजमें उनकी गणना साहित्यमें नहीं की जाती थी। लैटिन-भाषाका प्राधान्य आधुनिक युगके प्रारम्भतक था। बेकन, स्पाइनोज़ा, न्यूटन आदि विद्वानोंतकने लैटिन-भाषामें रचना की है। आधुनिक युगके विख्यात दार्शनिक बर्गसनने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ —काल और इच्छाशक्ति—को लैटिन-भाषामें ही लिखा। यही हाल भारतवर्षका भी हुआ। संस्कृत-भाषा बौद्ध युगके प्रारम्भ कालमें ही जन-साधारणसे पृथक् हो गयी। तो भी अठारहवीं शताब्दीतक उसी भाषामें कितने ही श्रेष्ठ विद्वानोंने अच्छे अच्छे ग्रन्थ लिखे। साहित्य-क्षेत्रमें लैटिनका प्रभुत्व लुप्त होनेपर योरोपमें मध्ययुगका अवसान हुआ और नवीन युगका आरम्भ। परन्तु मृत भाषाका प्राधान्य घट जानेपर भी प्रचलित भाषायें स्वतन्त्र नहीं हो जातीं। कारणवश उन्हें किसी विदेशी भाषाका प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ता है। प्रायः राजनैतिक प्रभुत्वके कारण विदेशी भाषा विजित-जातिकी भाषा और साहित्यके ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेती है। कभी कभी अपने ऐश्वर्यसे ही कोई भाषा दूसरी भाषाको दबा लेती है। रोमने ग्रीसपर विजय प्राप्त किया, पर ग्रीसके साहित्यने रोमके साहित्यको पराभूत कर दिया। लैटिन-भाषा और साहित्यकी उन्नति ग्रीक-भाषा और साहित्यके आधारपर हुई है। अस्तु। लैटिन-भाषाके बाद योरोपमें फ्रेंच-भाषा और साहित्यका सर्वत्र आदर होने लगा। श्रेष्ठ साहित्यके लिए, फ्रेंच-भाषा ही

उपयुक्त समझी जाने लगी। योरोपमें फ्रेंच-भाषाकी प्रधानता कुछ तो राजनैतिक कारणसे हुई और कुछ उसके आन्तरिक वैभवसे। धार्मिक भावोंसे भी कभी कभी किसी भाषाका प्रचार बढ़ जाता है। जब भारतवर्षमें वैष्णव-मतका प्राबल्य था तब अधिकांश वैष्णव-गुरुओंने ब्रज-भाषामें ही रचना की। इसका फल यह हुआ कि वैष्णव-धर्मके साथ साथ ब्रज-भाषाका भी प्रचार भारतके अनेक प्रान्तोंमें हो गया। बङ्गलाकी 'ब्रज-बुलि' इसीका एक उदाहरण है।

साहित्यका स्रोत सदैव समतल भूमिपर ही नहीं बहता। कभी वह ऊपर जाता है तो कभी नीचे। ऐसे ही उत्थान और पतनसे किसी साहित्यका विकास होता है। यदि यह बात न होती तो जिस इटलीने दान्तेके समान कविको उत्पन्न किया वह फ्रेंच-भाषाकी प्रभुताको स्वीकार न करता। परन्तु कुछ समयतक वहाँ फ्रेंच-भाषाका ही दौरदौरा रहा। इटलीके नवयुगके आदि कवि अलफियेरीने भी पहले पहल अपने नाटकोंकी रचनाके लिए फ्रेंच-भाषाका ही आश्रय ग्रहण किया। परन्तु उसे शीघ्र ही मालूम हो गया कि विदेशी भाषामें कितना ही परिश्रम क्यों न किया जाय, उसमें श्रेष्ठ साहित्यकी रचना नहीं की जा सकती। तब उसने अपनी ही भाषामें काव्य लिखे और इटलीमें नवीन साहित्यकी उन्नति होने लगी। यही हाल जर्मनीका हुआ। १०० वर्षतक फ्रेंच-साहित्यने जर्मनीको माया-मुग्ध कर रक्खा था। फ्रेडेरिक दी ग्रेटने जर्मनीको राजनैतिक स्वतन्त्रता दी, परन्तु

फ्रेंच-भाषाके सार्वभौम आधिपत्यको उन्होंने भी स्वीकार किया। जर्मनीके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता लेवीनीज़ने फ्रेंच-भाषामें ही अपने दर्शन शास्त्रकी रचना की। जर्मन-भाषाको उन्होंने कदाचित् अनुपयुक्त समझा। पर उसी भाषामें दर्शन-शास्त्रकी रचनाकर कैन्टने अक्षय कीर्ति प्राप्त की है। आज-कल तो विद्वानोंकी यह धारणा है कि दर्शन-शास्त्रके लिए सबसे उपयुक्त ज़र्मन-भाषा ही है। लूथरने जर्मनीको धार्मिक स्वतन्त्रता दी और कैन्टने वहाँ भाषाका स्वराज्य स्थापित किया। तबसे जर्मन-साहित्यकी जो उन्नति हुई है वह विलक्षण है।

भारतवर्षमें हिन्दू-साम्राज्यका अन्त होनेपर संस्कृतका आधिपत्य हिन्दू-धर्मपर रह गया। मुसलमानोंके शासन-कालमें राज-भाषा होनेके कारण फारसीका विशेष प्रचार हुआ। अँग-रेज़ोंका प्रभुत्व होनेपर अँगरेज़ी भाषाने समाजपर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। शिक्षाके लिए वही एक उप-युक्त भाषा मानी गई है। इसका फल यह हुआ कि देशके शिक्षितोंका ध्यान अँगरेज़ी भाषाकी ही ओर आकृष्ट है। अँगरेज़ी भाषाके माया-जालको तोड़कर बङ्गालके शिक्षित समाजने अपने देशमें एक नवीन साहित्यकी सृष्टि की है। इस साहित्यकी उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है। हिन्दी भी अब अपने प्रान्तमें सर्व-मान्य हो रही है। परन्तु अभी उसे दूसरी भाषाओंका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।

पृथ्वीपर जब जब किसी नवीन धर्मका प्रचार हुआ है तब तब

उस धर्मके साथ किसी भाषा-विशेषकी उन्नति हुई है। बौद्ध-धर्मके साथ पालीका प्रचार हुआ। जैन-धर्मके साथ मागधीकी वृद्धि हुई। योरोपमें पहले रोम राजकीय शक्तिका केन्द्र था। मध्ययुग-में पोपके अभ्युदयसे वह धर्मका भी केन्द्रस्थान हो गया। उसीके साथ लैटिन-भाषा भी देव-भाषा हो गयी। लूथरने रोमके धर्म-राज्यके विरुद्ध जो आन्दोलन किया उसके लिये उन्होंने लैटिन-भाषाका परित्यागकर जर्मन-भाषाका आश्रय लिया। इसका फल यह हुआ कि आजतक जो भाषायें लैटिन-भाषासे उद्गत हुई हैं उनके बोलनेवाले रोमन कैथोलिक हैं और जिन जातियोंकी भाषाका सम्बन्ध जर्मन-भाषासे है वे प्रोटेस्टेंट हैं। भारतवर्षमें बौद्ध-धर्मके ध्वंस होनेपर ब्राह्मण्य-धर्मके साथ संस्कृत-भाषाकी वृद्धि हुई। धार्मिक संस्कारोंके कारण किसी मृत भाषाका प्रभुत्व अखण्डित बना रहता है। हिन्दीपर संस्कृत भाषाका जो आधिपत्य है उसका कारण धार्मिक संस्कार ही है। ब्राह्मण्य-धर्मके विरुद्ध हिन्दीमें भी आन्दोलन हुए हैं। वैष्णव-धर्मके आचार्योंने ज्ञान और कर्मके ऊपर भक्तिका प्राधान्य प्रतिष्ठित कर हिन्दी-भाषाको स्वतन्त्रता दे दी। ज्ञान और कर्मकी मीमांसा देववाणीमें ही उपलब्ध हो सकती है, परन्तु भक्ति-मार्ग हिन्दी-भाषामें सुलभ हो गया। तभीसे हिन्दी-भाषाका अभ्युदय आरम्भ हुआ है। जब ज्ञानका क्षेत्र थोड़े ही लोगोंमें परिमित हो जाता है तब भाषामें उसके विरुद्ध आन्दोलन होने लगता है। धर्म और ज्ञानकी भाषा सदैव लोक-भाषा होनी

चाहिए। हिन्दीमें कृत्रिम-भाषाके विरुद्ध जो आन्दोलन हो रहा है उसका भी कारण यही है। लोग चाहते हैं कि क्या गद्य और क्या पद्य, दोनोंके लिए बोलचालकी भाषा प्रयुक्त होनी चाहिए।

भाषाका स्वराज्य स्थापित हो जानेसे, धर्म और ज्ञानपर एक मात्र मातृभाषाका आधिपत्य स्थापित हो जानेसे, विदेशी भाषाओंसे अथवा संस्कृतके समान प्राचीन भाषाओंसे उसका सम्पर्क नहीं छूट सकता है। योरोपमें सभी भाषायें स्वाधीन हैं, धर्म, समाज, राजनीति, शिक्षा, सभीमें वहाँ देशकी प्रचलित भाषाका ही स्वराज्य है। तो भी वहाके लोग अपनी मातृभाषाके अतिरिक्त दो दो तीन तीन विदेशी भाषाओंका अध्ययन करते हैं। प्राचीन भाषाओंका भी अध्ययन और अनुशीलन किया जाता है। बात यह है कि अतीतकालकी सभ्यताका रहस्य प्राचीन साहित्यमें ही विद्यमान है। बिना उसका ज्ञान प्राप्त किये हम वर्तमान सभ्यताकी यथार्थ प्रकृतिसे अवगत नहीं हो सकते। इसी प्रकार ज्ञानकी जो धारायें भिन्न भिन्न देशोंमें विभक्त हैं उनका पूर्ण परिचय प्राप्त करनेके लिए विदेशी भाषाका ज्ञान होना आवश्यक है। विदेशी भाषा और साहित्यकी चर्चा छोड़ देनेसे मनुष्यका ज्ञान-क्षेत्र सङ्कुचित हो जायगा। अतएव प्राचीन भाषाओं और विदेशी भाषाओंकी उपेक्षा कभी भी नहीं की जा सकती। अब प्रश्न यह है कि यदि इन भाषाओंका अनुशीलन होता रहेगा तो क्या उनका प्रभाव देश भाषापर नहीं पड़ेगा? पृथ्वीपर ऐसी कोई

जीवित भाषा नहीं है जो दूसरी भाषाओंसे शब्द ग्रहण न करती हो। हिन्दीमें अभीतक विदेशी भाषाओंके कितने ही शब्द प्रचलित हो गये हैं। भविष्यमें और भी अनेक शब्द प्रचलित होंगे। ज्यों ज्यों हिन्दीका प्रचार बढ़ेगा त्यों त्यों उसमें नये शब्द आवेंगे। न तो कोई जातियोंके पारस्परिक सम्बन्धको तोड़ सकता है और न कोई भाषाओंके पारस्परिक सम्मिश्रणको ही रोक सकता है। परन्तु इससे हानि होनेकी कोई आशङ्का नहीं है। अपनी विशेषताको अक्षुण्ण रखकर हिन्दी सभी भाषाओंसे शब्द ग्रहण कर सकती है। कुछ विद्वान् हिन्दी-भाषाको एक स्थिर रूप देना चाहते हैं। उनकी राय है कि भाषाकी भी एक मर्यादा होती है, जिसका पालन करना सबके लिए आवश्यक है। लेखकोंको उच्छृङ्खल नहीं होना चाहिए। भाषामें स्वेच्छाचार देखकर उन्हें दुःख होता है। वे चाहते हैं कि भाषा नियमबद्ध हो जाय। इसके विपरीत कुछ लोग बन्धनसे बहुत घबराते हैं। उनका कथन है कि भाषाकी वृद्धिमें रुकावट डालनेका अधिकार किसीको नहीं है। उनकी यह भी राय है कि भाषाको उन्नत करनेके लिये उसके शब्द भाण्डारको विस्तीर्ण करनेकी जरूरत होती है। अतएव भाषामें इतनी स्वतन्त्रता अवश्य होनी चाहिए कि जिससे हम अन्य भाषाओंसे सम्बन्ध रख सकें। कुछ लोग हिन्दीमें कठिन संस्कृत शब्दोंका बाहुल्य देखकर रुष्ट हो जाते हैं। कुछ हिन्दी और उर्दूका भेद ही मिटा देना चाहते हैं। कभी कभी व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्न

भी उपस्थित हो जाता है। ये तो भाषा-सम्बन्धिनी समस्यायें हैं। साहित्यिक ग्रन्थोंकी समालोचनामें आदर्शोंकी विभिन्नतासे भी विवादके कारण उपस्थित हो जाते हैं। हमारी यह धारणा है कि ये विवाद दूर होनेके नहीं, क्योंकि ऐसे ही विवादों और विरोधोंके द्वारा साहित्य उन्नतिके पथपर अग्रसर होता है। तो भी एक बात बिलकुल सच है वह यह कि जो विद्वान् यह यह समझते हैं कि किसी विद्वत्परिषद् अथवा साहित्य-सम्मेलनके द्वारा किसी भाषाका आदर्श निश्चित हो सकता है वे भ्रममें हैं। भाषाके साथ मनुष्योंका जो सम्बन्ध है उसपर इन विद्वानोंकी दृष्टि नहीं जाती। आजतक किसी भी साहित्य-परिषद्के द्वारा भाषाका रूप निश्चित नहीं हुआ।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि भाषा विद्वानों हीकी सम्पत्ति नहीं है, उसपर सभीका अधिकार है। उसके अधिकारियोंमें अधिकांश लोग विद्यासे शून्य हैं। यदि विद्वत्समाज भाषा-सम्पत्तिको अपनानेकी चेष्टा करेगा तो छूछा कोष उसके हाथ रह जायगा और सम्पत्ति जनताके हाथ चली जायगी। भाषा-पर विद्वानोंका प्राधान्य कभी न रहा है और न रहेगा। भाषा जनताका अनुसरण करेगी और विद्वान् भाषाका अनुसरण करेंगे। भाषा मृत तभी होती है जब वह विद्वानोंकी सम्पत्ति हो जाती है। तब वह देश-भाषा न होकर साहित्यिक भाषा हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि भाषाका विकास किस प्रकार होता

है। भाषाका सम्बन्ध मनुष्यके अन्तर्जगत्से है। वह उसकी अन्तर्भावनाओंका बाह्य रूप है। ज्यों ज्यों उसकी अन्तर्भावनाओंमें परिवर्तन होता जायगा त्यों त्यों भाषाका स्वरूप भी बदलता जायगा। भाषाके परिवर्तनमें देश और काल सहायक होते हैं। कुछ बाह्य कारण भी होते हैं—यथा विदेशी जातियोंका सम्मिश्रण। परिवर्तन अवश्य होते रहेंगे, परन्तु सिर्फ परिवर्तनशीलता ही प्रकृतिका नियम नहीं है। गतिके साथ स्थिति भी प्रकृतिका नियम है। स्थिति और गति दोनों प्राकृतिक नियम हैं। एक विद्वान्ने बौद्ध-धर्मके सम्बन्धमें लिखा है—

जो नष्ट हो गया उसका पुनरुद्भव होनेका नहीं और जो स्थिर हो गया है उसका लोप भी नहीं होनेका। यही बात हिन्दी-भाषाके विषयमें भी कही जा सकती है। भाषामें जो स्थिरता है उसका प्रधान कारण मनुष्यका धार्मिक संस्कार है। को[ई] भी मनुष्य अपनी मातृभाषाका सहसा परित्याग नहीं करेगा यदि उसके धार्मिक भाव बदल जायँ तो वह भले ही अप[नी] भाषा छोड़ दे, पर उसके धार्मिक संस्कार उसपर अपना प्रभा[व] अङ्कित कर जायँगे।

वर्त्तमान हिन्दी-भाषामें उन भावनाओंका प्रभाव कैसे [न] हो सकता है जो वैदिक-युग, बौद्ध-युग, पौराणिक-युग, हि[न्दू-] मुसलमानके सम्मिलन-युग अथवा पाश्चात्य-प्रभावसे [इस] वर्त्तमान युगमें प्रचलित हुई हैं। अब विचारणीय यह है कि [इन] युगोंकी क्या विशेषता थी।

वैदिक-युगकी भाषाका नाम है छान्दस् भाषा। इस भाषाका प्रधान उद्देश था ऋषियोंके हृदयोत्थित भावोंको अलक्षित शक्तियोंकी ओर प्रेरित करना। वैदिक मन्त्रोंकी भाषा शक्ति-सञ्चारिणी है, क्योंकि वह मनुष्यके अन्तर्निहित भावको जागृत करनेके लिए ही निर्मित हुई है। उसमें प्राणका आवेश विद्यमान है। सभ्यताके युगमें मनुष्य अपने कितने ही भावोंको छिपानेकी चेष्टा करता है। कृत्रिम आचार-व्यवहारकी जटिलताके कारण वह अपनी भाषामें शब्दोंका जाल रचता है। तब उसकी भाषामें उसके अन्तःकरणका विकृत आभास मिलता है। वैदिक युग ज्ञानका उषःकाल था। तब वाणी अन्तःकरणकी देवी थी। वैदिक युगकी भाषाका यह आदर्श हिन्दू-जातिकी सभी भाषाओंमें सदैव परिगृहीत होगा। इसमें कोमलता नहीं, गम्भीरता है; रस नहीं, शक्ति है। सरस भाव और सरल भाषाके लिए बौद्ध युगकी ओर हमें दृष्टि डालनी होगी। यही प्राकृत भाषाओंका युग है। इनमें गम्भीरताकी अपेक्षा माधुर्य अधिक है। इन दोनोंका सम्मिलन पौराणिक युगमें हुआ। अनार्य जातियोंके समावेशसे भारतीय राष्ट्र अधिक व्यापक हो गया था, अतएव उसकी भाषामें भी व्यापकता आनी चाहिए। भाषाका रूप परिवर्तित हुआ, अनेक भाषाओंकी सृष्टि हुई। परन्तु आदर्श प्राचीन ही रहा। जब मुसलमानोंका आधिपत्य भारतपर हुआ तब उनकी भाषाने भारतीय भाषाको एक नये साँचेमें ढाल दिया। ग्रामीणोंने तो अपनी भाषाकी रक्षा की, पर नगरोंमें

नवीन सभ्यताकी प्रचार-वृद्धिसे भाषाका नवीन रूप शीघ्र ही स्थिर हो गया। यही हिन्दीकी उत्पत्ति-कथा है। कई सभ्यताओंके मेलसे उसने यह रूप धारण किया है। अब पाश्चात्य भाषाओंका भी प्रभाव उसपर पड़ने लगा है। जो भाषायें हिन्दीके निर्माणमें सहायक थीं उनका प्रभाव तो मिट नहीं सकता। परन्तु सबसे अधिक प्रभाव संस्कृतका रहेगा, क्योंकि राष्ट्रीय भावनाका स्रोत उसीसे उद्गत हुआ है। पण्डित सतीशचन्द्र विद्याभूषणने एक बार कहा था कि भारतवर्षमें जितनी भाषाये प्रचलित हैं उन सबका आदर्श संस्कृत भाषा ही होना चाहिए। जैन, बौद्ध तथा अन्य धर्मावलम्बियोंने जिन जिन भाषाओमें अपने साहित्यकी रचना की है उनके साथ संस्कृतका अपरिहार्य सम्बन्ध है। यह सच है कि संस्कृत कभी भारतकी कथित भाषा नहीं थी। परन्तु भारतीय सभ्यता और राष्ट्रीयताका समस्त भाव संस्कृत भाषामें ही विद्यमान है। अतएव कथित भाषा न होनेपर भी आदर्श रूपमें उसको हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा। कुछ विद्वान् हिन्दी और उर्दूका तो सङ्गम देखना चाहते हैं, परन्तु संस्कृतके शब्द इन्हें अभीष्ट नहीं। यदि हिन्दी भाषाका प्राण हिन्दू-धर्म है तो संस्कृतसे उसका दृढ़ सम्बन्ध रहेगा और हम संस्कृतसे यथेष्ट शब्द लेते रहेंगे। यदि आज हिन्दी भाषा-भाषियोंके लिए संस्कृतके शब्द अपरिचित हो गये हैं तो इससे उनकी धार्म्मिकहीनता सूचित होती है। कुछ लोग कहते हैं कि अनावश्यक संस्कृत शब्दोंका प्रयोग

अनुचित है। यह कहना तो विलकुल सच है, पर भाषामें आवश्यकता और अनावश्यकताका निर्णय करना सरल नहीं है। यह तो निश्चित है कि बोलचालकी भाषामें परिवर्तन होता रहता है और उसीके साथ साहित्यिक भाषामें भी पतिवर्तन होगा। परन्तु साहित्यिक भाषामें सर्वत्र समानता कभी नहीं रहेगी। उसका कारण है लेखकका व्यक्तित्व। कितने ही ऐसे प्रतिभाशाली लेखक होते हैं जो भाषाकी नवीन रचनातक कर डालते हैं। पर उनकी भाषा उन्हींकी रहती है। दूसरे लोग उनका अनुकरण ही नहीं कर सकते। हम यह नहीं कहते कि भाषा और साहित्यमें कोई नियम ही नहीं हैं। नियम तो वनेंगे ही, पर वे नियम सदैव परिवर्तनशील रहेंगे। हमारे कहनेका मतलव यह है कि जो लोग सरलताके विचारसे भाषाके क्षेत्रको सीमावद्ध करना चाहते हैं उन्हे यह समझ रखना चाहिए कि कभी कोई ऐसी सीमा निर्धारित नहीं हो सकती है जो प्रतिभावान् लेखकके लिए अलंघ्य हो। यदि यही वात है तो भाषाको सङ्कुचित करनेके लिए व्यर्थ चेष्टा क्यों की जाय। क्या भाषामें और क्या भावमें, भारतवर्षने सदैव दूसरोंको अपनानेकी चेष्टा की है। उसने अपनी विशेषताको अक्षुण्ण रखकर सभीसे जो चाहा ग्रहण किया। हिन्दी-भाषापर विदेशियोंका प्रभाव प्रत्यक्ष है, पर उससे हिन्दीका हिन्दूत्व नष्ट नहीं हुआ। एक विद्वान्का कथन है कि मुसलमानोंके संसर्गसे ही हिन्दीमें तुकान्त कविताओंका उद्भव हुआ।

पर हिन्दी कविताओंमें हिन्दू-कवित्व-कलाका पूर्ण निदर्शन हुआ है। सबसे सम्पर्क रखकर भी हिन्दी हिन्दी बनी रहेगी, वह उर्दू नहीं होगी। यदि इस्लाम धर्मका प्रभाव नष्ट हो सकता है तो उर्दूका लोप होना सम्भव है। उसी प्रकार हिन्दू-धर्मके साथ हिन्दी-साहित्यका अस्तित्व है।

जो बात भाषाके लिए कही गयी है वही साहित्यके लिए भी कही जा सकती है। साहित्यके द्वारा अपनी राष्ट्रीयताकी रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रायः राष्ट्रीयताके नामसे अनुदार भावोंका प्रचार किया जाता है। पर हमें स्मरण रखना चाहिए कि राष्ट्रीयता अनुदार भावोंका पोषक नहीं है। जैसे व्यक्तित्वकी रक्षा करनेसे समाजकी मर्यादा भङ्ग नहीं हो सकती, वैसे ही राष्ट्रीय साहित्यकी उन्नतिसे विश्व-साहित्यकी हानि, नहीं होती, प्रत्युत वृद्धि होती है। परन्तु साहित्यमें राष्ट्रीयताका निर्णय करना सरल नहीं है। आज-कल हिन्दीमें वर्त्तमान राजनैतिक आन्दोलनसे सम्बन्ध रखनेवाले जो ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं वही प्रायः राष्ट्रीय साहित्यके अन्तर्गत समझे जाते हैं। अधिकांश लोगोंकी यही धारणा है कि राजनीति ही राष्ट्रीयताका परिचायक है। परन्तु हमें जान लेना चाहिए कि राजनीतिसे राष्ट्रीयता कभी निर्मित नहीं हुई है। राष्ट्रीयताका प्रधान कारण है एक देश। एक देशकी ही भावनासे राष्ट्रीय भावोंकी जागृति होती है। जब सब लोग यह समझते हैं कि यही हमारा देश है—इसके वन, पर्वत, नदी, झील, हमारे हैं—इसकी सम्पत्ति

हमारी है, हममेंसे प्रत्येक उस सम्पत्तिका उपभोग कर सकता है—तब हमें समझ लेना चाहिए कि ये लोग एक राष्ट्रके हैं। देशकी प्राचीन भाषा और साहित्य देशकी राष्ट्रीयताका प्रधान संरक्षक है। उसके द्वारा उन संस्कारोंकी पुष्टि होती है जिनसे राष्ट्रकी विशेषता बनी रहती है। भारतवर्षमें दो सभ्यताओंका सङ्गम हुआ है। हिन्दू-जातिकी प्राचीन भाषा और साहित्य मुसलमानोंकी प्राचीन भाषा और साहित्यसे पृथक् है। इन दोनोंके धार्म्मिक संस्कारोंमें भी विभिन्नता है। अब प्रश्न यह है कि क्या हिन्दू-जाति अपने उन संस्कारोंको भूल सकती है जिनके कारण वह आजतक अपनेको आर्य-जातिकी सन्तति कहती है? क्या मुसलमानोंके लिए यह भूल जाना उचित है कि उनके तीर्थस्थान मक्का और मदीना हैं? यथार्थमें राष्ट्रीय साहित्य-का काम उन्हीं भावोंको पुष्ट करना है जिनसे हिन्दू हिन्दू और मुसलमान मुसलमान बने रहें। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि साहित्यका उद्देश सत्यकी उपलब्धि है और सत्य सार्वजनीन है। तब उसके आदर्शमें राष्ट्रीयताकी प्रधानता कैसे सम्भव है? हिन्दू-धर्म भी तो सार्वदेशिक सत्यको ही प्रकट करता है। यह सच है कि जातीय भावमें भी सार्वजनीन भाव होना चाहिए और धर्मको देश-कालकी सीमासे बद्ध नहीं करना चाहिए। परन्तु यह भी सच है कि देश और कालके ही द्वारा धर्मका प्रकाश होता है। धर्मका स्वरूप सार्वभौमिक है सही, किन्तु इतिहासमें धर्म भिन्न भिन्न अवस्थाओंको अतिक्रमण-

कर अपने सार्वभौमिक स्वरूपको उपलब्ध करता है। समाज और राष्ट्रमें भी यही चेष्टा देखी जाती है। देश और कालसे पृथक् न तो कोई सार्वजनीन धर्म है और न कोई राष्ट्रसे पृथक् विश्वसाहित्य है। विद्या और विज्ञानकी वृद्धिके लिए भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें साहित्यका आदान-प्रदान तो होता ही रहेगा, और यह सैकड़ों वर्षोंसे हो रहा है। परन्तु इससे किसी जातिकी जातीयता लुप्त नहीं होती। साहित्यक्षेत्रमें तो हिन्दू-मुसलमानका सम्मिलन तभी हो गया था जब मुसलमानोंके अभ्युदयका आरम्भ हुआ। दोनोंने अपनी अपनी विशेषताको क़ायम रखकर एक दूसरेसे यथेष्ट ज्ञान ग्रहण किया। आज एक देशकी भावनाने हिन्दू और मुसलमानको एक भारतीय राष्ट्रमें परिणत कर दिया है। परन्तु इसका परिणाम यह कभी नहीं होगा कि दोनों अपनी विशेषताओंको खो बैठें। यदि ऐसी आशङ्का हो तो साहित्यमें संरक्षण-नीतिका अवलम्बन किया जाना चाहिए। यही बात पाश्चात्य साहित्यके लिए भी कही जा सकती है।

अब हमें विचार करना चाहिए कि हिन्दी-साहित्यकी कौन सी विशेषता है? क्या उसकी भी कोई कला है? इसके लिए हमें हिन्दी-साहित्यकी पर्यालोचना करनी होगी। समालोचनाकी उचित रीति वही है जिससे हमारे साहित्यकी विशेषता मालूम हो, हमारे राष्ट्रीय जीवनका रहस्य प्रकट हो।

हिन्दू-साहित्यका प्राचीनतम रूप वेदोंमें विद्यमान है।

वैदिक कालसे लेकर आजतक हिन्दू-समाज़के स्वरूपमें परिवर्तन होते रहे। बाह्य और आभ्यन्तरिक आक्रमणोंसे हिन्दू-समाजकी मर्यादाकी रक्षाके लिए स्मृतिकारोंने समयके अनुसार धर्मकी व्यवस्था कर दी। अपनी स्मृतियोंके कारण हिन्दू-धर्मने सभी तरहके आघात-प्रत्याघात सहकर अपनी मर्यादा अक्षुण्ण रक्खी। यही कारण है कि हजारों वर्ष व्यतीत हो जानेपर भी प्राचीन आर्यावर्तसे आधुनिक हिन्दू-समाजका सम्बन्ध-सूत्र टूटा नहीं। यह धार्मिक अनुशासनोंका ही फल है, परन्तु इन धार्मिक अनुशासनोंको हिन्दू-कवियोंने जीवित रक्खा। उन्होंने अपने नायक-नायिकाओंके आदर्श चरित्रोंमें हिन्दू-धर्मको मूर्तिमान कर दिया और हिन्दू-समाजने उन्हींमें अपने धर्मका प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया।। उन्हें अपने कर्त्तव्य-पथको निश्चित करनेके लिए किसी धर्म-शास्त्रको देखनेकी आवश्यकता नहीं थी। राम, सीता, अर्जुन, कृष्ण, दुर्योधन आदिके चरित्रोंसे ही वे अपना कर्त्तव्य समझ लेते थे। प्राचीन हिन्दू-साहित्यमें चरित्र-वैचित्र्य नहीं है। वही राम और सीता, अर्जुन और द्रौपदी, कृष्ण और राधा वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, सूरदास, तुलसीदास, हरिश्चन्द्र आदि सभी कवियोंके वर्णनीय विषय हैं। आधुनिक साहित्यने अब अपना लक्ष्य अवश्य बदल दिया है। उसका कारण यह है कि अब समाजकी अपेक्षा व्यक्तित्वके विकासपर ध्यान दिया जाता है। अब आदर्श चरित्रकी अपेक्षा चरित्र-वैचित्र्यकी ओर कवियोंकी

दृष्टि जाने लगी है। तो भी प्राचीन साहित्यके ये चरित्र हिन्दू-समाजके उपास्य देव बने रहेंगे और उन्हींसे हिन्दू-समाज जीवित रहेगा। भारतवर्षकी परिस्थिति अवश्य परिवर्तित हो गयी है। पाश्चात्य सभ्यताके प्रभावसे उसके समाजमें नई समस्यायें उपस्थित हो गयी हैं। कितने ही धार्मिक अनुशासन अब बन्धन प्रतीत होने लगे हैं। उन्हींके कारण धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन हो रहे हैं। ये सब आधुनिक साहित्यमें प्रतिबिम्बित होंगे और प्रतिभाशाली कवियोंके द्वारा उन चरित्रोंका निर्माण होगा जिनसे समाजकी समस्यायें हल हो जायँगी। परन्तु ये चरित्र हिन्दू-समाजके अन्यतम आदर्श नहीं होंगे। हिन्दू-समाजमें इनकी उपासना नहीं होगी। हिन्दूके तो हृदय-मन्दिरमें राम और सीताकी ही पूजा होती रहेगी।

भारतीय साहित्यके साथ भारतीय समाजका यही घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव प्राचीन काव्योंकी समालोचनामें इसी सम्बन्धपर ध्यान रखना चाहिए। कल्पनाके विकासमें, शक्तिके गति-सञ्चालनमें और मानवीय चेष्टाके उत्साहित करनेमें कविताने वही काम किया है जो विज्ञानने किया है। कविता केवल कल्पना-प्रसूत भावोंकी अभिव्यक्ति ही नहीं है, प्रत्युत वह तत्कालीन समाजकी शक्तिका उद्बोधक भी है। उसके दो रूप हैं शक्ति और कला। कुछ देशोंके साहित्यमें कवित्वकी शक्तिने और कुछमें कवित्वकी कलाने विशेषता प्राप्त की है। पाश्चात्य-साहित्यमें 'पिण्डार' शक्तिका प्रतिनिधि है और 'वर्जिल'

कलाका। आधुनिक कवियोंमें एलिजावेथ, वेरट ब्राउनिङ्गकी कृतिमें शक्ति है और कीट्सकी रचनामें कलाकी प्रधानता है। कुछ कवियोंके काव्योंमें कला और शक्ति दोनों पायी जाती हैं। पाश्चात्य साहित्यमें शेक्सपियर और दान्ते और भारतीय साहित्यमें कालिदास और तुलसीदास इसी कोटिके कवि हैं। हमें चाहिए कि हम प्राचीन कवियोंके काव्योंकी, शक्ति और कला दोनोंकी दृष्टिसे, समालोचना करें। कविवर विहारीकी सतसईके एक समालोचकने अपनी आलोचनामें वाह वाहकी धूम मचा दी है और अलङ्कारोंकी गणना करा दी है। पर विहारीकी शक्ति-शून्यतापर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। एक वार उन्हें विहारीके समयपर भी दृष्टि डालनी चाहिए थी। काव्य-समाजका प्रतिविम्ब होता है। अतएव उन्हें विहारीके काव्यके साथ ही समाजकी भी आलोचना करनी चाहिए थी। विहारीने सिर्फ़ अपने पूर्ववर्ती कवियोंसे ही भाव ग्रहण नहीं किया था, उसने समाजसे भी अनेक बातें ली होंगी। उनका भी उल्लेख करना समालोचकका कर्त्तव्य है। समालोचनाकी उपयोगिता इसीमें है।

आधुनिक साहित्यमें अव ऐसी तुलना मूलक और ऐतिहासिक समालोचनाओंका आदर होता है। पाश्चात्य समालोचकोंकी रचनाओंको पढ़नेसे यह मालूम होता है कि साहित्य और जातीय जीवनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है। ऐसे ही साहित्य-समालोचकोंद्वारा जातीय चरित्र-गठन होता है। यही

यथार्थ दार्शनिक हैं, साहित्यके पथ-प्रदर्शक और जातीय जीवनके नियामक हैं। फ्रांका नामक एक विद्वान्ने जर्मन-साहित्यमें समाजशक्तियाँ नामक एक ग्रन्थ लिखा है। उसकी भूमिकामेंआपने लिखा है—एक ऐसे ग्रन्थकी बड़ी आवश्यकता है जो जर्मन देशके उस जीवन-स्रोतका रहस्य समझावे जो उसके साहित्यमें विद्यमान है। विद्या और विज्ञान-विषयक जो आन्दोलन देशमें होता है उसकी उत्पत्ति समाजमें ही होती है और वही समाजकी स्थितिको बदल देता है। ऐसे आन्दोलनोंके साथ देशकी सामाजिक और राजनैतिक अवस्थाओंमें जो पारस्परिक सम्बन्ध है उसे बतला देना चाहिए। मतलब यह कि एक ऐसा ग्रन्थ तैयार हो जिसमें साहित्यसे ही जर्मन-जातिका इतिहास सङ्कलित किया जाय। एक दूसरे विद्वान्ने कहा है कि किसी भी साहित्यिक ग्रन्थकी समीक्षा दो प्रकारसे की जा सकती है, एक तो कलाकी दृष्टिसे और दूसरा इतिहासकी दृष्टिसे। कलाकी दृष्टिसे विचार करनेपर कोई ग्रन्थ स्वयमेव पूर्ण ज्ञात होता है। संसारसे वह सर्वथा पृथक् रहता है। इससे उसका किसी तरहका सम्पर्क नही रहता। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे देखनेपर कोई भी ग्रन्थ, चाहे उसमें कलाका पूर्ण निदर्शन क्यों न हुआ हो, असम्पूर्ण ही जान पड़ेगा। वह संसारके जीवनजालका एक धागा-मात्र रहेगा। कलाकी दृष्टिसे हम ग्रन्थके अन्तर्गत मूल-भावको बाह्य संसारपर दृष्टि-निक्षेप न कर समझ सकते हैं। परन्तु जब हम ऐतिहासिक रीतिसे उसपर

विचार करेंगे तब हम उस ग्रन्थकी मूल-भावनामें भी कार्य्य-कारणका सम्बन्ध देख सकेंगे। हम उस ग्रन्थमें पहले कविका व्यक्तित्व देखेंगे। फिर कविके व्यक्तित्वको समझनेके लिए हमें तत्कालीन समाजकी स्थितिपर विचार करना पड़ेगा क्योंकि उसी स्थितिमें रहकर कविका व्यक्तित्व विकसित हुआ है।

हिन्दीका प्राचीन काव्य-साहित्य बहुत महत्व-पूर्ण है। उसके इस महत्वका सबसे बड़ा कारण यह है कि जब हिन्दूजाति राज-नैतिक स्वत्वोंसे हीन होकर विदेशी विजेताओंसे पद-दलित हो रही थी तब इसी साहित्यने उसके सामाजिक जीवनको शृङ्खला-बद्ध रक्खा। मुसलमानोंके शासन-कालमें ही हिन्दी-साहित्यकी अच्छी श्रीवृद्धि हुई। उस समय व्यक्तिगत रूपसे चाहे किसी हिन्दूने इतिहासमें कितना ही महत्व-पूर्ण स्थान क्यों न पा लिया हो, परन्तु तत्कालीन इतिहासमें हिन्दू-जातिका अस्तित्व नहीं है। उस समयके इतिहासमें हम मुसलमानोंके आक्रमणका हाल पढ़ते हैं, उनके वैभव और साम्राज्य-विस्तारकी कथा पढ़ते हैं और यत्र तत्र नानक, रामानन्द, कबीर, शिवाजी आदि हिन्दू-वीरोंका भी परिचय पाते हैं। परन्तु हिन्दू-जाति स्वयं कहाँ थी, इसका कुछ पता नहीं लगता। जिस जातिमें शिवाजी और चैतन्य उत्पन्न हो सकते थे वह जाति मृत नहीं हो सकती। परन्तु तत्कालीन हिन्दू-जातिकी जीवनधारा कहाँ बह रही थी, इसका उल्लेख भारतीय इतिहासमें नहीं है, भारतीय साहित्यमें है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टिसे हिन्दी-साहित्यकी पर्यालोचना करना आवश्यक है।

साहित्यमें कार्य-कारणका नियम उतना ही व्यापक है जितना बाह्य जगत्में। संसारमें जब कोई कार्य होता है तब उसका एक कारण भी होता है। साहित्यमें भी सहसा किसी ग्रन्थकी सृष्टि नहीं हो जाती। कोई भी ग्रन्थ हो उसके निर्माणमें तत्कालीन समाजके धार्मिक विश्वास और संस्कार खूब काम करते हैं। कवि शून्यतासे सामग्री नहीं प्राप्त कर सकता। उसके लिए एक विशेष स्थितिकी आवश्यकता होती है। सच तो यह है कि जब तक उसके लिए समाज प्रस्तुत नहीं है तब तक वह प्रकट भी नहीं होता। जो भावनायें कविके काव्यके उपजीव्य हैं वे समाज-में पहलेसे ही प्रचलित हो जाती हैं। यदि तुलसीदासके पहले भक्तिकी भावना प्रबल नहीं होती तो रामचरितमानसकी सृष्टि भी नहीं होती। वह भक्ति-भावना भी किसी कारणका परिणाम है। वह कारण क्या है, यह जाननेके लिए हमें तत्कालीन और उसके पूर्ववर्ती इतिहासपर दृष्टि डालनी होगी। इस प्रकार मनुष्यके विचार-स्रोतपर ध्यान देनेसे हमें स्पष्ट रूपसे यह मालूम हो जायगा कि उसमें कितना सत्य है और इतिहासकी घटना-ओंसे उसका क्या सम्बन्ध है। उससे इतिहास स्पष्ट होता है और वह स्वयं इतिहाससे स्पष्ट होता है। इसीलिये इतिहासकी पर्यालोचनामें साहित्यकी समीक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। योरोपमें विद्वानोंने ऐसी समालोचनाका प्रचार किया है। साहित्यकी इस समीक्षासे गत सौ वर्षोंमें जर्मनी और फ्रांसमें इतिहासका स्वरूप ही बदल गया। विद्वानोंने समझ लिया कि

साहित्य केवल कल्पनाका क्रीड़ा-स्थल नहीं है और न वह उत्ते-जित मस्तिष्ककी सृष्टि-मात्र है। वह अपने कालके मानसिक विकासका चित्र है। अतएव साहित्यके प्रकाशसे हम अतीत कालके मनुष्यका अन्तरतम गूढ़ रहस्य जान सकते हैं।

जब हमारे हाथमें कोई किताब आती है तब सबसे पहले हम यही कहते हैं कि इसकी रचना योंही नहीं हो गयी। जिस प्रकार पृथ्वीपर पद-चिह्न देखकर हम यह कहते हैं कि यह एक प्राणीका चिह्न है उसी प्रकार ग्रन्थसे यह कहा जाता है कि वह भी मनुष्यकी अन्तरात्माका चिह्न है। चिह्नसे प्राणीका अनुमान किया जाता है और ग्रन्थसे मनुष्यके अन्तःकरणका आभास मिलता है। पद-चिह्नका महत्त्व इसीलिये है कि उसके द्वारा हम प्राणीका पता लगा सकते हैं। उन चिह्नोंका अनुसरणकर हम जान सकते हैं कि वह प्राणी कहाँ गया है। ग्रन्थका भी महत्त्व इसीमें है कि उसके द्वारा हम आत्माका अनुसन्धान कर सकते हैं। नदीका स्रोत सूख जानेपर भी किनारेपर शिला-खण्डोंको देखकर हम कह सकते हैं कि कभी इधर जलकी धारा बहती थी। सभ्यताका लोप हो जानेपर, किसी जातिका अस्तित्व नष्ट हो जानेपर, उसके साहित्यसे यह जाना जा सकता है कि उसकी जीवन-धारा किधर बह रही थी। अस्तु।

साहित्यके विकासमें तीन मुख्य कारण हैं, जातीय संस्कार, देश और काल। जातीय संस्कार वे हैं जो किसी विशेष जातिके सभी व्यक्तियोंमें पाये जाते हैं। अपने इन्हीं संस्कारोंके कारण

मनुष्य-जातिसे कोई जाति पृथक् की जा सकती है। देश और कालके व्यवधानसे भी ये संस्कार सर्वथा नष्ट नहीं हो जाते। एक आर्यजातिका ही उदाहरण लीजिए। आर्यजातिकी अनेक शाखायें हो गयी हैं। वे अब भिन्न भिन्न स्थानोंमें रहने लगी हैं। सैकड़ों वर्षों से वे एक दूसरेसे पृथक् हो गयी हैं तो भी उनका मूल-भाव नष्ट नहीं हुआ है। आर्यजातिकी सभी शाखाओंमें वह मूलभाव विद्यमान है जिसके कारण आज भी वे सभी अपनेको आर्य्य जातिमें सम्मिलित करा सकती हैं।

देश-कालका प्रभाव भी साहित्यको एक स्थिर रूप दे देता है। ग्रीस और भारतवर्षके साहित्यमें जो विभिन्नता है उसका कारण देश-गत है। कहा जाता है कि भारतीय सभ्यताका उद्गम शान्त तपोवनमें हुआ और ग्रीसकी सभ्यताकी उत्पत्ति नगरोंमें हुई। भारतकी सजला, सफला भूमिमें पदार्पण करते ही आर्योंकी ऐहिक कामनाये' पूर्ण हो गयीं। उन्हें अपने जीवन-निर्वाहके लिए यह प्रार्थना करनेकी कभी जरूरत नहीं हुई—"Give us this day our daily bread।" उन्होंने प्रार्थना की 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'। उनका लक्ष्य इहलोक न होकर परलोक हो गया। भारतवर्षके साहित्य और कलामें आध्यात्मिक भावोंकी जो प्रधानता है उसका कारण यह देश ही है। इसके विपरीत ग्रीसका प्रधान कार्य्य-क्षेत्र इहलोक ही रहा।

कालका प्रभाव दो रूपोंमें व्यक्त होता है। जाति भविष्यके लिए जो सामग्री छोड़ जाती है उसका उपयोगकर कालान्तरमें

उसकी सन्तान साहित्यकी श्री-वृद्धि करती है। इसके साथ ही भिन्न भिन्न जातियोंके पारस्परिक संघर्षणसे जो उत्क्रान्ति उत्पन्न होती है उसका भी प्रभाव साहित्यपर चिराङ्कित हो जाता है। वर्त्तमान हिन्दी-साहित्यपर प्राचीन आर्य्य-जातिका प्रभाव स्पष्ट है। उसी प्रकार उसपर इस्लाम सभ्यता एवं आधुनिक योरोपका भी प्रभाव विद्यमान है। इन सब प्रभावोंसे जातिकी जो उन्नति और अवनति होती है वह उसके साहित्यमें स्पष्ट रूपसे दिखायी पड़ती है।

हिन्दी-साहित्यकी सृष्टि हिन्दू-मस्तिष्क-द्वारा हुई है। इसलिए हिन्दी-साहित्यकी विशेषता जाननेके लिए यह आवश्यक है कि हम अपने प्राचीन भारतकी संस्थाओं और विचार-धाराओंके विषयमें भी ज्ञान प्राप्त करें। वर्त्तमान भारतके सामाजिक और आध्यात्मिक जीवनका मूल अतीत कालमें है। भारतवर्षका इतिहास अभीतक अपूर्ण ही है। परन्तु संस्कृत-साहित्यमें उसके मानसिक विकासका इतिहास विद्यमान है। संस्कृत-साहित्य जितना विस्तृत है उतना ही व्यापक है। मनुष्योंके विचार और कल्पनाका क्षेत्र जहांतक जा सकता है वह उसके अन्तर्गत है।

भारतीय साहित्यके प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। वाह्य जगत्के साथ मनुष्योंका सम्पर्क होनेसे उनके हृदयमें हर्ष और विस्मय, आधार और आतङ्ककी जो भावनायें उद्भूत होती हैं वे उनमें विद्यमान हैं। भावोंकी विशदता और भाषाकी शक्तिमें वैदिक

मन्त्रोंके साथ संसारके किसी भी काव्यकी तुलना नहीं हो सकती। उनमें प्रकृतिका आवरण दूरकर अन्तिम सत्यका रूप जाननेकी चेष्टा की गयी है। हिन्दूकी दृष्टिमें वेद उसके सामाजिक और आध्यात्मिक जीवनका अनन्त स्रोत हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वेदोंने ही हिन्दू-साहित्य और विज्ञानकी गति निर्दिष्ट कर दी। वेदोंके कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्डसे हिन्दू-धर्मशास्त्र और वेदान्त-शास्त्रकी सृष्टि हुई।

शास्त्रोंका कथन है कि जिन नियमोंके द्वारा हमारे वाह्य और अन्तर्जीवनका सङ्गठन होता है उनका न आदि है और न अन्त। वे स्वतःप्रसूत हैं, अतएव उन्हें शिरोधार्य करना मनुष्य-मात्रका कर्तव्य है। सदाचार और कर्तव्यविधिमें कोई भेद नहीं है। पवित्र-जीवन उसीका समझा जाता है जो अपने समाज-निर्दिष्ट सभी कर्मोंको करता है। यही कारण है कि आजतक हिन्दुओंमें व्यक्तिकी अपेक्षा समाजका अधिक प्राबल्य है। वेदान्त-शास्त्रकी शिक्षा इसके बिलकुल विपरीत है। उसने सामाजिक जीवनकी उपेक्षा करके प्रत्येक व्यक्तिके आत्मिक विकासपर ज़ोर दिया है।

क्रमशः वैदिक साहित्य जन-साधारणकी सम्पत्ति न होकर कुछ ही लोगोंकी सम्पत्ति हो गयी। भारतवर्षके सर्वसाधारणके मानसिक विकासमें रामायण और महाभारतने खूब काम किया। उनका प्रभाव आजतक अक्षुण्ण है। इन्हीं दो महाकाव्योंके आधारपर संस्कृतका विशाल साहित्य निर्मित हुआ

है। संस्कृतके जितने कवि और नाटककार हुए हैं सभीने रामायण और महाभारतका आश्रय ग्रहण किया है।

बौद्ध धर्मका लोप होनेपर नवीन संस्कृत साहित्यका निर्माण हुआ। नवीन संस्कृत-साहित्यमें सौन्दर्य है, पर प्राण नहीं। हम उसपर मुग्ध हो जावेंगे, पर उसे हम अपने जीवनकी सहचरी नहीं बनावेंगे। उसका आकार है, परन्तु गति नहीं। कृत्रिमता है, सजीवता नही।

संस्कृत-साहित्यके ह्रास-कालमें मुसलमानोंने भारतवर्षपर आक्रमण किया। इससे संस्कृत-साहित्यकी उन्नतिमें बड़ी बाधा पहुंची। दो सौ सालके बाद वर्त्तमान भाषाओंमें नवीन साहित्यका निर्माण होने लगा। सर्वसाधारणकी भाषामें होनेके कारण यह साहित्य खूब लोक-प्रिय हुआ। यह साहित्य तत्का-लीन धार्मिक आन्दोलनका परिणाम था। यह आन्दोलन ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिपर जोर देता था। भक्ति-भावके उन्मेषसे कवियोंने जो रचनायें कीं वे सभी सरस, सरल और हृदय-स्पर्शी थीं। अतएव मुसलमानोंके आगमनका यह सुफल हुआ कि हिन्दू-साहित्यमें शुष्क तर्कवादका स्थान भक्तिवादने ले लिया।

अँगरेज़ोंके भारत-विजय करनेपर हिन्दू-साहित्यने दूसरा रूप धारण किया। अँगरेज़ी भाषा और साहित्यका प्रचार बढ़ने-पर भारतीयोंने उसमें नवीन ज्ञानालोकका दर्शन किया। वह था पाश्चात्य विज्ञान। उन्नीसवीं सदीके आरम्भमें भारतीय साहित्यमें नव्ययुग उपस्थित हुआ। भारतीय भाषाओंमें

अँगरेज़ी-साहित्यके ग्रन्थ अनुवादित होने लगे। पचास सालमें पाठ्य पुस्तकों और अनुवाद-ग्रन्थोंकी एक विशाल राशि खड़ी हो गयी। पर स्थायी साहित्यकी दृष्टिसे एक भी ग्रन्थ न निकला।

आधुनिक साहित्यका अभी शैशव-काल है। बङ्गालमें मधुसूदन दत्त और रवीन्द्रनाथ, उत्तर-भारतमें स्वामी दयानन्द और हरिश्चन्द्र, और दक्षिणमें आपटे इसी साहित्यके पुरस्कर्ता हैं। हिन्दी साहित्यकी जो कुछ उन्नति वर्त्तमान युगमें हुई है उसका आरम्भ स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने ही किया। भविष्यमें उसका क्या रूप होगा, यह कहा नहीं जा सकता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्य उन्नति-पथपर अग्रसर हो रहा है। अस्तु।

हिन्दी साहित्यको हम चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। पहला युग हिन्दी साहित्यका आदि-काल है। दूसरे युगका आरम्भ मुसलमानोंके आक्रमण-कालमें हुआ। तीसरे युगमें हिन्दी-साहित्यकी वृद्धि मुसलमानोंके राजत्व कालमें हुई। चौथा युग अंगरेजोंके शासन-कालसे आरम्भ होता है। इन्हीं युगोंकी विशेषताओंपर विचारकर हम हिन्दी साहित्यकी गति निर्दिष्ट करना चाहते हैं। यही इस पुस्तकका उद्देश्य है।

हिन्दी-साहित्य अपने काव्यके लिये प्रसिद्ध है। उसका गद्यात्मक भाग आधुनिक युगकी सृष्टि है। अतएव हम पहले हिन्दीके काव्योंपर ही विचार करना चाहते हैं।

संसारमें सभी तरहके कवि होते हैं। कुछ महाकवि होते

हैं, और अधिकांश क्षुद्र कवि होते हैं। कविताएं अच्छी भी होती हैं और बुरी भी। परन्तु कविता अच्छी हो अथवा बुरी, वह कविता ही रहेगी। इसी प्रकार कवि चाहे सुकवि हो अथवा कुकवि, वह कवि ही रहेगा। कविताकी परीक्षामें हमें उसकी इसी विशेषतापर ध्यान देना चाहिये। हिन्दीमें महाकवि चन्दसे लेकर आजतक सैकड़ों छोटे बड़े कवि हो गये हैं। कुछ अपनी रचनाके कारण अभीतक लब्ध प्रतिष्ठ हैं। पर अनेक विस्मृतिके गर्तमें डूब गये हैं। सम्भव है, अपने जीवन-कालमें उन्होंने भी सुख्याति प्राप्त की हो। परन्तु अब कोई उनका नाम तक नहीं लेता, उनकी रचनाका आदर होना तो दूर रहा। यह सब होने-पर भी हम यह नहीं कह सकते कि वे कवि नहीं थे। कोई वृक्ष बरसों खड़ा रहता है, कोई चार ही पांच महीनेमें नष्ट हो जाता है। परन्तु वृक्षकी श्रेणीमें दोनोंका स्थान है। अपनी क्षण-भङ्गुरताके कारण वृक्ष वृक्षकी श्रेणीसे पृथक् नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार हिन्दीके अप्रसिद्ध कवि भी कवियोकी पंक्तिसे हटाए नहीं जा सकते। यह सम्भव है कि समाजने उनकी अवहेलना की हो। यह भी सच है कि अपनी अल्पशक्तिके कारण उनकी कविताकी दीपशिखा एक क्षुद्र सीमासे ही अवरुद्ध रही हो। परन्तु समाजकी अवहेलना और निरादर पाकर भी कवि अपने स्थानपर बैठा ही रहेगा। यदि वह सचमुच कवि है तो सम्भव नहीं कि उसका प्रभाव बिलकुल ही नष्ट हो जाय। जो वृक्ष अपने जीवनकालमें किसीका उपकार नहीं कर सकता

वह अपने अस्तित्वमात्रसे वनकी श्यामताकी वृद्धि करता है। नदीके स्रोतमें मिट्टीके जो छोटे छोटे कण बहते चले जाते हैं उनपर किसीकी दृष्टि नहीं जाती। परन्तु कभी उनसे ही एक ऐसा द्वीप निर्मित हो जाता है जिसे देखकर हमलोग विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। यही हाल क्षुद्र कवियोंकी क्षुद्र-रचनाओंका है। अज्ञातरूपसे साहित्यपर इसका जो प्रभाव चिराङ्कित हो जाता है वह कविताके विकासके लिये श्रेयस्कर है। अस्तु।

कविता सचमुच है क्या? कविताकी इस परीक्षामें अच्छी और बुरी दोनों तरहकी कविताएं हैं। रहस्यमयी कविताका स्वरूप पहचान लेना कठिन है। एक बार एक कविने यह प्रश्न किया था कि कविताकी कसौटी है क्या? परन्तु कसौटीके ढूंढ़नेके पहिले हमें कविता ही ढूंढ़ लेनी चाहिये। सोनेकी कसौटीपर सोनेकी ही परीक्षा हो सकती है, कांचकी परीक्षामें सोनेकी कसौटी काम नहीं देगी। इसीलिए कविता चाहे अच्छी हो अथवा बुरी, सबसे पहिले हमें यही देख लेना चाहिए कि वह कविता है कि नहीं।

जो साहित्य-शास्त्रके मर्मज्ञ हैं वे कवितामें रस और चमत्कार खोज लेते हैं। जिसमें उन्होंने इसका अभाव देखा उसको उन्होंने कविताकी पंक्तिसे वाहर किया। परन्तु उन्होंने यह विचार कभी नहीं किया कि कवित्वके सब गुणोंसे हीन पद्य-रचना अपढ़ लोगोंके हृदयमें क्यों स्थान पा लेती है। सड़कपर मजदूर और गँवार जो पद्य गाते फिरते हैं उनमें न तो रसका

परिपाक हुआ है और न अलङ्कारका चमत्कार ही है। उनका कुछ अर्थ भी नहीं। तो भी उनसे उनका हृदय हिल जाता है। यदि लोक-प्रियता ही कविताकी एकमात्र कसौटी समझी जाय तो ग्रामीण सङ्गीत ही कवितामें सबसे ऊंचा स्थान पा जायँ। हमें अब यह देखना चाहिए कि इन ग्रामीण सङ्गीतोंसे लेकर, व्यास और वाल्मीकिके काव्योंतकमें भावनाकी वह कौन समान धारा है जो मूर्ख और विद्वान्, राजा और दरिद्र, सभीके हृदयमें वह रही है। जो रचना उस भावको जितनी अच्छी तरह व्यक्त करेगी वह उतनी ही अच्छी कविता कही जायगी।

विद्वानोंके शब्द-जालमें पड़कर हमलोग कविताको रहस्य-मयी समझने लगे हैं। जब हमसे यह कहा जाता है कि अमुक रचना कविता है तब हम आंख फाड़कर उसमें कवित्व ढूंढ़ने लगते हैं और अन्तमें हताश होकर कहने लगते हैं कि इसमें ऐसी कौनसी बात है जो हम नहीं जानते। यह कहना ऐसा ही है, कि यह कैसा सौन्दर्य है, इसे तो हम बराबर देखते रहते हैं। इसीलिए अब तो असाधारणता ही सौन्दर्यका प्रधान लक्ष्य समझी जाती है। इसी असाधारणताके लिए कवितामें शब्दोंका जाल रचा जाता है। अस्पष्ट भावको स्पष्ट करनेके लिए उपमाका प्रयोग नहीं किया जाता किन्तु उपमाकी सार्थकताके लिए तदनुकूल भावकी योजना की जाती है। छन्द और भाषा भावके लिए नहीं हैं। पर हमारी समझमें जिन रचनाओंमें ये बातें हैं वे उतनेसे ही कविता नहीं कही जा सकती हैं।

कविताकी सच्ची पहचान है कविका अन्तःकरण। यदि कविने अपने अन्तःकरणमें किसी सौन्दर्यका दर्शन किया है तो यह सम्भव नहीं कि उसकी रचनामें उस सौन्दर्यका आभास न मिले, चाहे उसमें सौन्दर्यका रूप मलिन क्यों न हो। यह सौन्दर्य सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु जब हम उस सौन्दर्यका अनुभव न कर अपने मस्तिष्ककी उत्तेजनामात्रसे कविता लिखनेका प्रयत्न करते हैं तब हमारी रचना उपहासास्पद होगी। सौन्दर्यके अनुभवमें कल्पना सहायक-मात्र हैं, वह स्वयं सौन्दर्य नही है। जिसमें कल्पना नहीं है वह तो कविता है ही नहीं। परन्तु जिसमें कल्पना-का रूप विकृत है वह भी कविता नहीं है। भाषाका सौष्ठव, अलङ्कारोंकी शोभा, छन्दका माधुर्य किसी रचनाको विस्मयो-त्पादक बना सकते हैं, परन्तु मनुष्य उसमें सौन्दर्यका वह रूप नहीं देखेगा जिसके लिए उसका हृदय सतृष्ण है।

विश्वका यह सौन्दर्य अनन्त है, परन्तु है यह सभीको लभ्य। सबसे अधिक आश्चर्यकी बात यह है कि यह सर्वदा नवीन ही रूप धारण करता है। यही कारण है कि वाल्मीकि, होमर, दान्ते, कालिदास, सूरदास आदि कवियोंने हमें जिस सौन्दर्य-का दर्शन कराया है उसको उपलब्ध करके भी हम सन्तुष्ट नहीं होते। सौन्दर्यका जो रूप उन्होंने दिखलाया है उसीमें सौन्दर्य-का अन्त नहीं हो गया है। मनुष्योंकी यह सौन्दर्य-तृष्णा कम नही होती। इसीलिए श्रेष्ठ कवियोंकी श्रेष्ठ रचनाओंसे हमारी जो पिपासा दूर नहीं हुई उसे तृप्त करनेके लिए जब छोटे कवि

अपनी कविताओंका अञ्जलिदान करते हैं तब हम उन्हें भी सोत्कण्ठ ग्रहण करते हैं।

हमने अभीतक सौन्दर्यका ऐसा वर्णन किया है कि मानों वह कोई पदार्थ हो जिसका अधिक या अल्प अंश कवितामें विद्यमान रहता है। सच पूछो तो सौन्दर्य हमारी मानसिक अवस्थाका विकास-मात्र है। जो लोग गिरि-निर्झरमें सौन्दर्य देखते होंगे उन्हें ऐसे भी मनुष्य मिलेंगे जो गिरि-निर्झरमें किसी प्रकारका सौन्दर्य नहीं देखते। बात यह है कि जिनकी मानसिक अवस्था जितनी कम उन्नत होगी, उनका सौन्दर्य-बोध भी उतना ही संकुचित होगा। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अनुभव करनेवाला सौन्दर्यका विराट् रूप देखेगा। परन्तु जिसका हृदय उदार नहीं है वह स्वार्थ-साधनमें ही सौन्दर्य देखेगा।

अब हम सौन्दर्य-बोधके आधारपर कविताका स्वरूप पहचाननेकी चेष्टा करते हैं। जो कवि हैं वे या तो बाह्य सौन्दर्यका वर्णन करेंगे या अन्तः सौन्दर्यका। पशु, पक्षी, पहाड, नदी अथवा स्नेह, दया, करुणा, ममता, क्रोध, यही कविताके विषय हैं। परन्तु यदि कविका सौन्दर्य-बोध संकुचित है तो उसका वर्णन भी संकुचित होगा और उसका प्रभाव भी क्षुद्र होगा। परन्तु यदि उसने पाठकोंको अपने सौन्दर्य-बोधका अनुभव करा दिया तो उसका परिश्रम सार्थक है। भारत-भारतीमें गुप्तजीने भारतके अतीत गौरव और वर्तमान दुरवस्थाका चित्र खींचा

है। इसके पहिले उन्होंने अपने हृदयमें उसका अनुभव ज़रूर किया होगा। यदि पाठकगण गुप्तजीके अन्तर्निहित चित्रका परिचय उनके काव्यमें पा सकें तो भारत-भारतीकी रचना सार्थक हो गई। परन्तु यदि पाठकोंके हृदयमें कोई चित्र उदित नहीं हुआ, केवल क्षणिक उत्तेजना उत्पन्न हुई, तो रचना विफल है। रामचरित-मानसमें तुलसीदासजीने अपने भक्ति-भावको चित्रित किया है। यदि पाठक उनके भावमें लीन हो गये तो रामचरित मानसका उद्देश पूर्ण हो गया। परन्तु यदि उससे उनका मनोविनोद ही हुआ तो रामचरित-मानसका गौरव घट गया। कविकी भावनाको यदि हम हृदयङ्गम कर सकें तो उसकी रचना सफल हो गई। इस दृष्टिसे अच्छी कविता वह है जो शुद्ध भावना उत्पन्न करे और बुरी कविता वह जो बुरी भावना उत्पन्न करे। परन्तु जिससे भावना उत्पन्न ही न हो वह कविता नहीं, शब्द-जाल है।

यदि कविने अपने हृदयमें सौन्दर्यका शुद्ध रूप देखा हो तो वह अपनी रचनाको श्रेयस्कर बना सकता है। यदि उसके हृदयमें सौन्दर्यकी मलिन छाया है तो उसकी रचनासे ग्लानि होगी। परन्तु जिसकी रचनामें सौन्दर्य हो नहीं है वह सदैव अनिष्टकर रहेगी। उसकी रचनामें मनुष्यका सौन्दर्य-बोध नष्ट हो सकता है और चित्त विक्षिप्त हो सकता है। ऐसी रचना सदैव असह्य होती है। ग्रामीण सङ्गीतोंमें क्षुद्र सौन्दर्य-की अस्पष्ट छाया रहती है, तो भी वही उनके हृदयमें भावनाकी

प्रधान उपादान माने गये हैं। अँगरेज़ीके एक प्रसिद्ध लेखक डिकन्सन साहबने ग्रीसकी सङ्गीत-चर्चाके प्रसङ्गमें ग्रीक-जातिकी इस विशेषताका उल्लेख किया है। यूरोपके मध्य युगमें काव्य, साहित्य तथा सङ्गीतद्वारा ईसाई-धर्म और क्षात्रधर्मने समाजमें प्रसार लाभ किया। युद्धमें न्याय-धर्मका पालन, सबलोंके अत्याचारसे दुर्बलोंका उद्धार, स्त्री जातिके प्रति सम्मान और एक निष्ठ प्रेमकी साधना, इन आदर्शों का प्रचार समाजमें साहित्यके ही द्वारा हुआ। भारतवर्षमें रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि काव्योंके आदर्श हिन्दू-समाजके गार्हस्थ्य और धार्मिक जीवनमें स्वीकृत हुए। इन्हींके प्रभावसे आधुनिक हिन्दू-समाज संगठित हुआ है। पारस्परिक व्यवहारमें प्रतिदिन इन्हीं आदर्शों का अनुसरण किया जाता है। कहनेका मतलब यह कि समाजमें अपना प्रभाव चिरस्थायी करके ही कवि अक्षय हो गये हैं।

कवियोंकी तुलनात्मक आलोचना की जाती है। भिन्न भिन्न कवियोंकी काव्य- कलाओंका विश्लेषण कर यह बतलाया जाता है कि अमुक कवि अमुक कविसे श्रेष्ठ अथवा हीन है। हमारी समझमें कवियोंकी परीक्षामें यह कसौटी ठीक नहीं। समाजमें जिस कविका प्रभाव सबसे अधिक है वही सर्वश्रेष्ठ कवि है। जिसकी रचनाका पाठकर प्रतिदिन हज़ारों मनुष्य आनन्द लाभ करते हैं और जिससे शिक्षालाभ कर अपने दैनिक जीवनमें भी उस शिक्षाका उपयोग करते हैं उसीकी कृति साहित्यमें प्रथम

श्रेणी पानेका दावा कर सकती है। जो कविता कुछ अल्प-संख्यक काव्य-रसिकोंके मनोविनोदके लिए है, जिसके अर्थ-गाम्भीर्य और भाव-सौन्दर्यका रसास्वादन कर कुछ ही विद्वान् क्षणिक उत्तेजना प्राप्त करते हैं, जो रचना शब्द-सौष्ठव और अलंकार-चमत्कारसे पूर्ण होकर भी मनुष्यके दैनिक जीवनमें व्यवहृत नहीं होती वह कभी श्रेष्ठ स्थान नहीं पा सकती।

हिन्दी-साहित्य-समालोचनामें एक विषय और भी विचारणीय है। वह है कवियोंकी अनुकरण-शीलता। यह कहा जाता है कि अमुक कविने अमुक कविका अनुसरण किया है। अतएव अमुक कविमें अमुक कविसे अधिक मौलिकता है। मौलिकताका स्वरूप निश्चित करते समय हमें तत्कालीन समाजकी भावनापर ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक युगमें एक विशेष भावनाका प्राबल्य रहता है और वह भावना उस समयके सभी कवियोंकी रचनाओंमें विद्यमान रहती है। अंगरेजीमें इसको The Spirit of the age कहते हैं। जब हिन्दी-साहित्यमें श्रृंगार-रसका प्राबल्य हुआ तब उस रसके सूक्ष्म विश्लेषणमें सभी कवि प्रवृत्त हुए। श्रृंगार-रस-सम्बन्धी संस्कृत-साहित्यका भी मन्थन किया गया। फल यह हुआ कि सभी कवियोंने उससे यथेष्ट भाव ग्रहण किया। जब हम कहते हैं कि अमुक हिन्दी-कविने अमुक हिन्दी-कविसे भाव ग्रहण किया तब अधिक सम्भावना इस बातकी भी होती है कि उन दोनों कवियोंने एक तीसरे ही कविसे भाव ग्रहण किया हो। पर मौलिकता भाव ग्रहणमें नहीं, किन्तु विषयकी विवेचनामें है।

परन्तु हमें यहो एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए। सभी देशोंमें, सभी कालोंमें कवियोंका कार्यक्षेत्र एकसा नहीं रहता। सच तो यह है कि कविका कार्यक्षेत्र क्या है, यह कहना बड़ा कठिन है। आजतक जितने कवि हुए हैं उन्होंने एक ही पथका अनुसरण नहीं किया। सबके आदर्श भिन्न भिन्न थे। महाकवि वाल्मीकिने अपनी रामायणकी रचनामें जो आदर्श रक्खा था वह कालिदास और भारविके काव्योंमें नहीं। योरोपीय साहित्यमें होमरका जो आदर्श था वह पोप, वर्डस्वर्थ अथवा टेनीसनकी रचनाओंमें नहीं पाया जाता। यहाँ हम किसी कवि-की क्षुद्रता अथवा महत्तापर विचार नहीं कर रहे हैं हम तो यहां सिर्फ उनके आदर्शपर विचार कर रहे हैं। इन सब कवियोंकी कृतियोंपर थोड़ा भी ध्यान देनेसे यह निश्चित हो जाता है कि उन्होंने अपने अपने देश और कालकी रुचिका ख़याल करके भिन्न भिन्न आदर्शोंका अनुसरण किया है। यही उचित भी है। कविको अनुसरण न करना चाहिए; उसे कोई नई बात पैदा करनी चाहिए। जिस पथपर एक कविको सफलता हुई है उसीपर चलकर दूसरा भी कवि हो सके, यह सम्भव नहीं। देश कालमें भेद पड़ जानेपर कभी कभी तो ऐसा करना अत्यन्त उपहासास्पद हो जाता है। अँगरेजी-साहित्यके इतिहासमें एक ऐसा उदाहरण है भी। प्रसिद्ध लेखक एडिसनके समयमें ड्यूक आव् मार्लबरोके विजय प्राप्त करनेपर एक काव्य लिखा गया था। उसमें कविने ड्यूकको होमरके वीरोचित गुणोंसे

युक्त करके कवच और सन्नाह धारण कराकर युद्धभूमिमें, अग्रगामी योद्धाके वेशमें, उपस्थित कराया था। प्राचीनकालमें वीरताके आदर्श राम और हेक्टर थे। पर अब तो नेपोलियनके समान मनुष्य ही विश्वविजयी हो सकते हैं। इसलिए होमर अथवा वाल्मीकिके युद्धवर्णनका आदर्श आधुनिक कवियोंके कामका नहीं। आदर्श तो बदलते ही हैं, विषय भी परिवर्तित होते रहते हैं। जिन विषयोंको प्राचीन कवि पद्यबद्ध करनेके योग्य नहीं समझते थे उनपर आधुनिक कवि काव्य-रचना करते हैं। अतएव यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि कविका कार्यक्षेत्र क्या है।

कहते हैं कि कल्पना ही कविका कार्यक्षेत्र है, सत्य नहीं; सौन्दर्य है, ज्ञान नहीं; हृदय है, मस्तिष्क नहीं; भाव है, विवेक नही। भावोंकी प्रधानता सिर्फ काव्यमें ही नहीं मानी जाती, किन्तु सभी ललित-कलाओंमें भावोंका प्राधान्य माना जाता है। भावोंके आविष्करणको कला कहते हैं। पर आप किसी भी कलाको लीजिए। उसमें विशेषत्व प्राप्त करनेके लिए एक विशेष शिक्षाकी आवश्यकता होती है। जब उसका निर्दिष्ट ज्ञान नहीं होता तब उसमें सफलता नहीं प्राप्त होती। ज्ञानके विकाससे भावोंका विकास होता है। यदि यह बात न होती तो कवि अपने बाल्यकालमें ही उत्तमोत्तम कविता लिख डालता और इटलीके रैफ़ल नामक चित्रकारके सबसे उत्तम चित्र उसके बाल्यकालमें ही अङ्कित हुए होते; क्योंकि बाल्यकालमें भावोंका

जितना प्राबल्य रहता है उतना प्रौढ़ावस्थामें नहीं। सच तो यह है कि ज्ञानकी ऊर्जितावस्थामें ही कलाका सबसे अच्छा विकास होता है। हृदयके साथ मस्तिष्ककी पुष्टि होनेपर भावोंकी उत्तम अभिव्यक्ति होती है।

यदि हमारा यह सिद्धान्त ठीक है तो हमें कहना चाहिए कि विज्ञानके विकाससे कलाका ह्रास नहीं, प्रत्युत वृद्धि होती है। लार्ड मेकालेने मिल्टनके विषयमें कहा है कि मिल्टन उस युगमें हुआ जब कविताका समय गुज़र चुका था। पर हम समझते हैं कि मिल्टनका उदय अपने ही उपयुक्त समयमें हुआ। उसके काव्योंमें भावोंकी जो गम्भीरता और भाषाकी जो प्रौढता है वह उसीके युगके अनुकूल है। भारतीय-साहित्यके इतिहास-पर एक बार दृष्टि डालिए। वीर-रसात्मक काव्यके अन्तिम कवि व्यास थे। उनके बाद कोई भी कवि वीर-रसकी कविता लिखनेमें यथेष्ट समर्थ नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि व्यवसायकी समृद्धिके साथ ही साथ विलासिताकी वृद्धि होती है। उसके दो परिणाम होते हैं। एक तो विलासितासे विरक्ति और दूसरे उससे अनुरक्ति। अतएव शान्तिके समयमें वैराग्य-रस अथवा शृङ्गार-रसकी ही कवितायें लिखी जाती हैं। जब जातिमें संघर्षण रहता है, परस्पर द्वंद्व युद्ध चलता है, तब वीर-रसकी कविताका समय आता है। मिल्टनके शैतानका व्याख्यान इङ्गलैण्डके विप्लव-युगके ही उपयुक्त था। चन्दका रासो और भूषणकी कविता अपने युगके अनुकूल ही थी।

मध्य-युगमें क्षीणशक्ति और राजनैतिक स्वत्वसे हीन हिन्दू-जाति भगवान्‌का आश्रय खोजे और भक्ति-रसके काव्योंमें तल्लीन हो जाय तो आश्चर्य नहीं है।

हम कह आये हैं कि काव्योंमें भावोंका आधिपत्य स्वीकृत किया जाता है। परन्तु क्या काव्यमें और क्या अन्य ललित-कलाओंमें, सभीमें, भावोंके स्पष्टीकरणसे चरमसत्यका ही विकास होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कविताका सत्य दर्शनशास्त्र या विज्ञानका सत्य नहीं है और न उसमें वह सत्य है जो किसी धर्म अथवा मत विशेषसे स्पष्ट किया जाता है। उसमें सत्यका प्रकाश कुछ दूसरी ही रीतिसे होता है। कवि किसी मतका अनुयायी हो, कोई भी सिद्धान्त मानता हो, पर ज्योंही वह अपने सिद्धान्तोंको पद्य-बद्ध करता है अथवा वर्ड-स्वर्थ या ड्राइडनके समान पद्योंमें धार्मिक शिक्षा देना चाहता है त्योंही वह कविके उच्च आसनसे गिर जाता है। कविका काम न तो शिक्षा देना है और न दार्शनिक तत्त्वोंकी व्याख्या करना है उसके हृदयमें तो वह गान उद्भूत होना चाहिए जिससे समस्त मानव-जातिकी हृत्तन्त्रीमें विश्व-वेदनाका स्वर बज उठे।

मनुष्योंमें ईश्वरदत्त शक्तियोंमेंसे वाणीकी महिमा सबसे अधिक है। हिन्दूमात्र उसे साक्षात् देवी सरस्वतीके रूपमें उपास्य समझते हैं। संसारके बाल्य-कालसे लेकर आजतक इसी वाणीका ही विकास होता जा रहा है। जब भावोंकी वृद्धि होती है तब भाषामें रूपान्तर होता है। जब कोई भाषा भाव

ग्रहण करनेमें असमर्थ होती है तब उसका अन्त हो जाता है और उसका आसन दूसरी भाषा ले लेती है। यही कारण है कि भाषा एकसी कभी नहीं रहती। उन्नतिशील मानव-जातिके लिए भाषामें परिवर्तन होते रहना आवश्यक है। सारांश यह कि सभी भाषायें सभी भावोंको व्यक्त करनेमें समर्थ नहीं होतीं। यही कारण है कि भिन्न भिन्न भाषाओंमें भिन्न भिन्न स्वर प्रकट होते हैं। भारतीय भाषाओंमें जो भाव व्यक्त हो सकते हैं वे भाव योरोपीय भाषाओंमें भली भांति व्यक्त नहीं होंगे। तो भी इतना हम अवश्य कहेंगे कि भाव-स्रोतकी एक ही धारा एक ही समयमें सर्वत्र बहती है। प्राचीनकालमें सभी कवि प्रकृतिके देदीप्यमान शक्तियोंका गान करते हैं। इसके बाद कवि वीरोंका गान करते हैं। इसके बाद नाटकोंकी सृष्टि होती है। फिर श्रृङ्गार-रसपर काव्य-रचना होती है, भाषाका माधुर्य बढ़ता है, अलङ्कारोंकी ध्वनि सुन पड़ती है और पद-नैपुण्य प्रदर्शित किया जाता है। इसके बाद सांसारिक विषयोंसे घृणा होती है। भक्तिके उन्मेषमें कोई प्रकृतिका आश्रय लेता है, कोई प्राचीन आदर्शोंका।

बाह्य-प्रकृतिके बाद मनुष्य अपने अन्तर्जगत्की ओर दृष्टिपात करता है। तब साहित्यमें कविताका रूप परिवर्तित हो जाता है। कविताका लक्ष्य 'मनुष्य' हो जाता है। संसारसे दृष्टि हटाकर कवि व्यक्तिपर ध्यान देता है तब उसे आत्माका रहस्य ज्ञात होता है। वह सान्तमें अनन्तका दर्शन करता है और

भौतिक पिण्डमें असीम ज्योतिका आभास पाता है। हमारा विश्वास है कि सभी देशोंके साहित्यमें भविष्य कविका लक्ष्य इधर ही होगा। अभीतक वह मिट्टीमें सने हुए किसानों और कारखानेसे निकले हुए मजदूरोंको अपने काव्यका नायक बनाना नहीं चहता था। वह राजस्तुति, वीणा या अथवा प्रकृति-वर्णनमें ही लीन रहता था। परन्तु अब क्षुद्रोंकी भी महत्ता देखेगा और तभी जगत्का रहस्य सबको विदित होगा। जगत्का रहस्य क्या है, इसपर एकने कहा है कि असाधारणतामें यह रहस्य नहीं है। जो साधारण है वही रहस्यमय है ; वही अनन्त सौन्दर्यसे युक्त है। इसी सौन्दर्यको स्पष्ट कर देना भविष्य-कवियोंका काम होगा।

---

(३)

हिन्दी-साहित्यका आदि-काल

सभी देशोंके साहित्यमें ऐसे रस-सिद्ध कवीश्वर होते हैं जिनके यशःशरीरको जरा और मृत्युका भय नहीं रहता। परन्तु ऐसे कवि सभी समय नहीं उत्पन्न होते। जब वे जन्म लेते हैं तब देशकी समस्त भावनायें उन्हींमें केन्द्रीभूत हो जाती हैं और वे उन भावनाओंको चिरन्तन स्वरूप देते हैं। सच तो यह है कि देश और कालमें जन्म लेकर भी ये अपने व्यक्तित्वके कारण देश और कालको अतिक्रमण कर जाते हैं। वाल्मीकि और व्यासके

समान कवियोंकी रचनाओंमें तत्कालीन भारतवर्षकी समस्त भावनायें विद्यमान हैं। परन्तु उन भावनाओंमें सत्यका जो चिरन्तन रूप हमें आज प्राप्त हो रहा है वह वाल्मीकि और व्यासकी सृष्टि है। जो साहित्य किसी युग-विशेषकी प्रतिच्छायामात्र है वह सभी देश और सभी समयके लिए आदरणीय नहीं हो सकता है। जो कवि अपने देश और कालमें ही लीन हो जाता है उसकी कृतिमें वह चिर-नवीनता नहीं रहती जिसके कारण कविकी कीर्ति अक्षय बनी रहती है। कविकी कर्तृत्वशक्ति तभी प्रकट होती है जब वह अपनी साधना और अनुभूतिके बलसे देशके चिन्ता-स्रोतमें सत्यका यथार्थ रूप देख लेता है। जब हम ऐतिहासिक दृष्टिसे किसी साहित्यकी आलोचना करते हैं तब हमें यह बात स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणके लिए हम हिन्दी-साहित्यको लेते हैं। हिन्दी-साहित्यमें कबीर, तुलसीदास, सूरदास आदि जितने कवीश्वर हुए हैं सभीकी कृतिमें तत्कालीन युगकी भावना विद्यमान है। परन्तु वही उसका सर्वस्व नहीं है। ये कवि अपने युगकी भावनासे बहुत ऊँचे उठ गये हैं। उनकी कृतिमें तत्कालीन धार्मिक भावनाका प्रतिबिम्बमात्र नहीं है, किन्तु सत्यका वह रूप है जिसे उन्होंने अपनी साधनासे उपलब्ध किया है। किसी भी ग्रन्थकी विवेचनामें हमें दो बातोंपर ध्यान देना होगा। एक तो यह कि वह तत्कालीन चिन्ता-स्रोतका कितना अनुसरण कर रहा है और दूसरा यह कि उसमें कविका कितना कर्तृत्व है।

कोई कितना ही बड़ा कवि क्यों न हो, वह अपने युगकी उपेक्षा नहीं कर सकता। संसारमें प्रविष्ट होते ही लोग पूर्वार्जित ज्ञान-राशिके अधिकारी हो जाते हैं। समाज उन्हें भाषा प्रदान करता है और अनन्त युगकी ज्ञान-निधि भी। यह ज्ञान-निधि चिरकालसे सञ्चित होती आ रही है। भाषा भी मनुष्यकी चिरन्तन भावनाका फल है। इन्हींके आधारपर कवि अपनी सृष्टि करता है।

हिन्दी-साहित्यके आदि-कालमें चन्दवरदाईका ही नाम प्रसिद्ध है। यदि उनके पहले किसी कविने ऐसी भाषामें रचना की थी जो हिन्दी कही जा सकती है तो उसकी कृति उपलब्ध नहीं है। पुष्य कविका केवल नाममात्र पाया जाता है। खुमान-रासोके विषयमें भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। विचारणीय यह है कि हिन्दी-साहित्यके आदि-कालमें कौनसी विचारधारा बह रही थी जिसका फल चन्दका महाकाव्य है। चन्द-कविकी कृतिमें उनकी जो कुछ विशेषता है उसपर हमें विचार नहीं करना है। हमारा विश्वास है कि कविकी कृति साहित्य जगत्में आकस्मिक घटना नहीं है। यदि यह बात सच है तो उसका कुछ कारण अवश्य है। यहाँ वही कारण जाननेकी चेष्टा की जाती है।

संसारमें छोटे-बड़े सभी तरहके मनुष्य रहते हैं। वे सदैव महत्त्व-पूर्ण कार्योंमें निरत नहीं रहते। अधिकांशका जीवन-काल ऐसे ही कार्योंमें व्यतीत होता है जो तुच्छ कहे जाते हैं।

मनुष्य अपने जीवनमें सुख-दुखका अनुभव करता है, कभी किसीसे प्रेम करता है तो कभी किसीसे घृणा करता है। काम, क्रोध, मोह, लोभके चक्रमें भी वह पड़ा रहता है। तुच्छ कार्योंमें निरत रहनेपर भी वह इतना अवश्य अनुभव करता है कि उसका जीवन इतना ही नहीं है। उसके हृदयमें यह विश्वास छिपा हुआ रहता है कि वह कुछ और भी है। कभी कभी वह उस कुछ औरको भी प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। इसीलिए वह जब किसीमें किसी प्रकारकी महत्ता देखता है तब वह उसकी ओर आकृष्ट होता है। वह शक्तिकी महत्ताको समझता है, इसीलिए वह शक्तिका अनुभव करना चाहता है। तभी मनुष्योंमें शक्तिके जो जो प्रतिनिधि हैं वे सभी उसको कल्पनाके विषय हो जाते हैं। मनुष्योंको महत् भावकी ओर अग्रसर करानेके लिए साहित्यकी सृष्टि होती है। यह भाव चिरन्तन है, अतएव जो साहित्य इस भावकी पुष्टि करता है वह भी चिरन्तन है। वह साहित्य लौकिक साहित्य है। वह विद्वानोंकी सम्पत्ति नहीं है। उसपर सर्व-साधारणका अधिकार होता है। जब विद्वान् कलाकी मीमांसामें निरत रहते हैं तब सर्व-साधारणका परितोष इसी साहित्यसे होता है। विद्वानोंको सर्वदा इसीकी चिन्ता रहती है कि ज्ञानकी धारा मलिन न होने पावे। वे ज्ञानके क्षेत्रको पाण्डित्यकी चहारदीवारीसे घेर डालते हैं। उनका साहित्य अगाध कूपका जल है, जिसको प्राप्त करनेके लिए गुणकी ज़रूरत होती है। परन्तु लौकिक साहित्य सर्वसाधारणके

ाए है। यह वह बहता नीर है जिससे जो चाहे अपनी प्यास
का सकता है। इसके लिए गुणकी ज़रूरत नहीं, पाण्डित्य
ोर विद्वत्ताकी आवश्यकता नही।

इस साहित्यकी पहली विशेषता यह है कि यह सर्व-
ाधारणकी भाषामें निर्मित होता है। अनादि कालसे मनुष्यों-
ी एक भाषा है, जो सर्वथा जीवित रहती है। उसका स्थान
द्वानोंके कोषमें नहीं, सर्व-साधारणकी अक्षय निधिमें है।
द्वानोंके कोषमें भाषा स्थिर हो जाती है, परन्तु सर्वसाधारणकी
क्षय निधिमें भाषा चिर नवीन बनी रहती है। दूसरी विशेषता
ह है कि इस साहित्यमें उन्हीं भावोंकी प्रधानता रहती है
ानसे किसी जातिकी जातीयता है। प्रत्येक जातिकी एक
सी विशेषता होती है जिसके कारण वह अन्य जातियोंसे
म्पर्क रख कर भी अपना अस्तित्व नहीं खो बैठती। भारतवर्षमें
दिक कालसे लेकर आजतक अनेक जातियोंका परस्पर सम्मि-
न हुआ है। उनमें कुछ जातियोंका तो अब पता तक नहीं
गता। वे हिन्दू-जातिमें बिलकुल लुप्त हो गई है। यह सम्भव
हीं कि हिन्दू-जातिपर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा हो।
रन्तु हिन्दू-जातिकी जो विशेषता वैदिक कालमें थी वह आज
क बनी हुई है। उसीके कारण वर्तमान हिन्दू वैदिक-कालके
ार्यों से अनेक बातोंमें भिन्न होते हुए भी अपना सम्बन्ध उन्हीं-
े जोड़ता है। यह सम्बन्ध लौकिक साहित्यके कारण अक्षुण्ण
ना रहता है। तीसरी विशेषता यह है कि यह साहित्य किसीसे

कुछ ग्रहण करनेमें कुछ सङ्कोच नहीं करता। अतएव इसका सदा विकास होता रहता है। जिस प्रकार यह जातीय भावोंका संरक्षक है उसी प्रकार यह सार्वदेशिक भावोंका भी प्रचारक है। समाजपर इसी साहित्यका प्रभाव पड़ता है और समाजमें जो कुछ परिवर्तन होते हैं वे सब इसीके परिणाम हैं। हिन्दी-साहित्यके आदिकालमें जो रचनायें हुई है वे इसी साहित्यके फल है।

बौद्ध-धर्मके पतनके बाद देशमें जिस साहित्यकी प्रतिष्ठा हुई उसका सम्बन्ध सर्वसाधारणसे नही था। जिस प्रकार बौद्धों और नव-हिन्दू-धर्मके आचार्यों के शास्त्रार्थ और विवाद कुछ थोड़े विद्वानोंके लिए थे उसी प्रकार नव-हिन्दू-साहित्यके ग्रन्थ-रत्न भी विद्वानोंके लिए थे। धर्मकी सूक्ष्म मीमांसा, दर्शनकी जटिल व्याख्या और काव्यका चमत्कार सर्वसाधारण-के लिए अनधिगम्य ही है। परन्तु जब देशमें इनकी चर्चा हो रही थी तब क्या सर्वसाधारण जड़ीभूत हो रहे थे? क्या उनके हृदयमें किसी प्रकारकी भावनायें नहीं उठती थीं? क्या वे अपने दैनिक जीवनके लिए उस धर्मकी प्रतीक्षा कर रहे थे जिसका निर्णय बौद्ध-विद्वानों और हिन्दू-धर्मके आचार्य सभाओं-में बैठकर कर रहे थे? क्या किसी कालिदास, भवभूति, बाण अथवा श्रीहर्षकी रस-धाराके लिए वे अपने हृदयको शुष्क बना रहे थे? सच बात यह है कि हमारे दैनिक जीवनमें अन्तः-सलिला होकर जो चिर-जीवनकी धारा बह रही है उसका

प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं होता। सर्वसाधारणमें मनुष्योंका सम्मिलन क्षण भरके लिए नहीं रुकता। यही कारण है कि देशसे बहिष्कृत होनेपर भी बौद्ध धर्म हिन्दू-समाजपर अपना प्रभाव छोड़ गया। किसी दर्शनशास्त्र और धर्म-शास्त्रके द्वारा यह कार्य सम्पन्न नहीं हुआ। जिस साहित्यका यह फल है वह मनुष्योंकी चिरजीवन-धारामें लुप्त हो गया है। तत्कालीन मनुष्योंके सुख-दुःखमें जो साहित्य उनका साथ देता था, वह कहाँ गया? खेतोंमें बैठकर किसान जिन कथाओंसे अपने पूर्वजोंके कृत्योंका स्मरण करते थे, घरमें जिनसे उनका मनो-विनोद होता था, जिन प्रेम-मय गानोंको सुनकर क्षण भर उनका हृदय-स्पन्दन रुक जाता था, जिन कविताओंके द्वारा उनके हृदयमें भक्ति-भावका उद्रेक होता था उनका अब पता नहीं लग सकता, पर उन्हींके आधारपर संसारके श्रेष्ठ साहित्य-की रचना हुई है। हिन्दीके आदिकालके कवियोंने उन्हींसे अपने काव्यकी सामग्री एकत्र की है।

सभी देशोंमे आदिकालके साहित्यमें एक ही भावकी प्रधा-नता रहती है। यह भाव मनुष्य-जातिकी समानता प्रकट करता है। देश और कालका व्यवधान होनेपर भी मनुष्य सर्वत्र मनुष्य ही रहता है। अतएव वह जब कभी कहीं महत्ता देखता है तब उसके हृदयमें भिन्न भिन्न भाव उदित होते हैं। कभी उसे विस्मय होता है, कभी वह आतङ्कमें डूब जाता है। कभी भक्ति-से उसका मस्तक अवनत हो जाता है और कभी आनन्दसे

उसका हृदय भर जाता है। विस्मय, आतङ्क, आनन्द और भक्ति, ये सब मनुष्यके अन्तर्गत अनुरागके फल हैं। महत्तापर मनुष्यका स्वाभाविक अनुराग है। इसीसे वह उसकी ओर आकृष्ट होता है और उससे जो जो भाव उत्पन्न होते है उनको वह वार वार अनुभव करनेकी इच्छा करता है। यदि वे भाव क्षणिक हुए तो उनसे उसकी तृप्ति नही होती और वह अन्यत्र महत्ताका दर्शन करनेकी चेष्टा करता है। प्राचीन कालमें प्रकृतिकी जिन विभूतियोंमें मनुष्य महत्ताका अनुभव करता है उनके प्रति उस का वह भाव सदा नहीं बना रहता है। जबतक प्रकृतिकी शक्ति रहस्यमयी होती है तभीतक वह उसमें महत्ताका अनुभव भी करता है। जब वह उसके लिए साधारण हो जाती है तब वह उससे सन्तोष लाभ नहीं करता। पर इसका यह मतलब नहीं है कि ज्ञानकी वृद्धि होनेपर मनुष्य प्रकृतिमें महत्ता ही नहीं देखता। बात यह है कि जब वह अपनी कर्तृत्व शक्तिका अनुभव करने लगता है तब वह प्रकृतिको स्वायत्त करना चाहता है। उस समय वह मनुष्यकी शक्तिमें जो महत्ता देखता है उसे वह प्रकृतिमें नहीं पाता। अज्ञानके कारण उसने प्रकृतिमें जो शक्ति आरोपित की थी उसे वह मनुष्यपर आरोपित करता है। फिर भी प्रकृतिका एक गुण ऐसा है जो उसके लिए सदैव चित्ताकर्षक बना रहता है। वह है उसका चिर-नवीन सौन्दर्य। अतएव यह सौन्दर्य उसकी कल्पनाका विषय बना रहता है।

जब मनुष्य मानवीय शक्तिमें महत्ता देखने लगता है तब

उसकी दृष्टि कहाँ जायगी ? मध्ययुगमें मनुष्य राजसभामें ही शक्तिकी पराकाष्ठा देखता था। उस समय राजा ही मानवीय शक्तिका प्रतिनिधि होता था। जबतक देशमें राजशक्ति अक्षुण्ण रही तबतक राजा ही मनुष्यकी कल्पनाका आदर्श रहा। राजाका प्रेम, राजाका युद्ध, राजाकी विजय, यही सर्वसाधारणके लिए महत् होना चाहिए। जो जातिका गौरव है उसीको जातिका आदर्श होना चाहिए। इसीलिए सभी देशोंकी प्राचीन कथाओंमें राजाका ही वर्णन है। राजाको आदर्श मानकर मनुष्य उसमें अपनी समस्त इच्छाओंका परम परिणाम देखना चाहता है। राजाको सबसे अधिक रूपवान होना चाहिए। उसमें शक्ति भी असाधारण हो। मनुष्योंमें जो जो गुण हो सकते हैं उन सबका समावेश उसमें होना चाहिए। उसके लिए विलासकी सामग्री भी अद्वितीय होनी चाहिए। यह सब कुछ होनेपर भी कथाओंमें राजाका जीवन सुखमय नहीं होता। उसे सभी प्रकारकी विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है। उसके शत्रु विकट होते हैं। परन्तु अन्तमें वह सबको पराभूत कर देता है। सङ्कटमें वह धैर्यच्युत नहीं होता। प्रलोभनमें पडकर उसकी मति भ्रष्ट नहीं होती। यही बात श्रेष्ठ महाकाव्योंसे लेकर ग्राम्य कथाओंतकमें पाई जाती है। लौकिक साहित्यमें जातीय पराभवकी कथा नहीं प्रचलित होती। यदि रावणके वंशधर लङ्कामें जीवित होते तो श्रेष्ठ काव्य होनेपर भी रामायण उनके लिए आदरणीय नहीं होती। मनुष्य अपने नायकक

आशा-निराशा, सुख-दुख और उत्थान-पतनके चक्रमें पड़ा हुआ देख सकता है, पर उसका पराभव उनके लिए असह्य है। धर्म और कर्त्तव्यकी वेदीपर वह अपने नायकको बलि होते हुए देख लेगा, परन्तु यह पराभव नहीं, विजय है। पृथ्वीपर स्वर्गकी जय है। उससे पार्थिव शक्तिकी अपेक्षा आत्मिक शक्तिकी श्रेष्ठता सूचित होती है। इसके सिवा हिन्दू-जाति एक अदृष्ट शक्तिकी विद्यमानता सदैवसे स्वीकार करती आई है। इस शक्तिके आगे मनुष्यका पुरुषार्थ कुछ काम नही करता। मनुष्यके उत्थान-पतनमें वही शक्ति काम करती है। हिन्दू-काव्योंमें अभिशापके द्वारा पृथ्वीकी सबसे बड़ी शक्ति भी पराभूत हुई है। हिन्दी-काव्योंमें जब किसी नायकका पराभव हुआ है तब इसी अदृष्ट शक्तिके बलसे हुआ है। चन्दके आदर्शके विषयमें भी यही बातें कही जा सकती हैं।

प्राचीन कथाओंका एक प्रधान विषय प्रेम होता है। समाजमें स्त्रियोंका जो स्थान होता है उसीके अनुसार साहित्यमें उनका चरित्र प्रदर्शित होता है। परन्तु प्रेमकी कथा सर्वदा एक सी बनी रहती है। प्राचीन भारतीय साहित्यमें स्त्री-चरित्रका जो उत्कर्ष हम देखते हैं वह हिन्दी-साहित्यमें उपलब्ध नहीं होता। सच तो यह है कि हिन्दी-साहित्यमें अभीतक किसी नारी-चरित्रकी सृष्टि नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि प्राचीन हिन्दू-समाजमें स्त्रियोंका जो गौरव-पूर्ण स्थान था वह मध्य-युगमें नहीं रहा। परन्तु हिन्दीमें प्रेम-वर्णनका अभाव नही है।

चन्दवरदाईके काव्यमें जो स्त्री-चरित्र अङ्कित हुआ है वह केवल पुरुषकी क्षमताका सूचक है। तो भी स्त्री-जातिका जो स्वभाव-सुलभ प्रेम है उसका दिग्दर्शन अवश्य हुआ है। हिन्दू-काव्योंमें प्रेमका पर्यवसान विवाहमें हुआ है। विवाहमें कर्तव्य-ज्ञान रहता है। समाजका कल्याण उसपर निर्भर है। कर्तव्य-ज्ञान-रहित लालसाको हिन्दू-समाजमें प्रेमका स्थान नहीं दिया गया है। हिन्दू-स्त्रीके सतीत्वकी रक्षा तभी हो सकती है जब उसका प्रेम कर्तव्यमय हो। हिन्दीके परवर्ती कवियोंने जिस निर्बाध लालसाका चित्र अङ्कित किया है वह प्रेम नहीं, उद्दाम वासना है। समाजकी असंयतावस्थामें ही मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ प्रचण्ड होती हैं। हिन्दी-साहित्य के आदि-कालमें समाज सुव्यवस्थित हो गया था। तब हिन्दू-धर्मने सामाजिक नियमोंमें स्थिरता ला दी थी। उस समय देशमें राजसत्ता हीकी समस्या थी। धार्मिक और नैतिक नियमोंकी सीमा थी, परन्तु राजसत्ताकी कोई सीमा नहीं थी। जिस प्रकार धर्म-गुरुओंपर समाजका भार था उसी प्रकार राज्य का भार राजापर था। सर्वसाधारणमें देश-भक्ति नहीं थी, राज-भक्ति थी। अतएव तत्कालीन साहित्यमें हमें समाजकी संयतावस्थाका चित्र मिलता है और असंयत राज-शक्तिका। राजा ही सम्पूर्ण देशका केन्द्र था। सर्वसाधारणका आत्म-त्याग उसीके लिए था। जबतक भारतवर्षमें हिन्दू-साम्राज्य रहा तबतक राज-भक्ति और धर्म-भक्तिमें कभी सङ्घर्षण नहीं हुआ।

इसीलिए आदि-कालमें भारतीयोंकी धर्म-बुद्धि निश्चेष्ट सी रही। सर्वसाधारण अपने धर्मकी रक्षाका भार ब्राह्मणोंको सौंपकर अपने कर्त्तव्य-पालनमें निरत रहे। राजकीय सत्ता अव्यवस्थित होनेके कारण राज्यकी रक्षाके लिए सभी सावधान थे। अतएव देशमें क्षात्र-धर्म चैतन्य था। इसी भावको प्रबुद्ध रखनेके लिए लौकिक-साहित्यमें वीर-गाथायें प्रचलित थीं। जब हिन्दू-साम्राज्यका पतन हो गया तब भी देशमें स्वाधीनताके भाव प्रबल थे। चन्दबरदाईके समयसे लाल कवितक कितने ही कवि हुए, जिन्होंने म्रियमाण हिन्दू-जातिमें स्वाधीनताका भाव जागृत रखनेकी चेष्टा की। मेवाड़में जगद्विलास, राजप्रकाश, राजदेव-विलास, राजरत्नाकर, जयदेवविलास आदि काव्य इसी उद्देशसे निर्मित हुए। मारवाड़में भी कितने ही कवियोंने ऐसे ही काव्योंकी रचना की। अन्य राजसभाओंमें ऐसे ही अनेक कवि हुए। जब भारतवर्षमें मुसलमानोंकी राजकीय सत्ता व्यवस्थित हो गई और धर्मपर आघात होने लगा तब भारतीय धर्ममें नवीन शक्ति आई और वीर-गाथाओंकी अपेक्षा धार्मिक काव्योंकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति हुई। इन धार्मिक काव्योंके मूलमें भी वही भावना-स्रोत बह रहा है जिसके कारण भारतकी भारतीयता है। अतएव वे भी लौकिक साहित्यके अन्तर्गत हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि चन्दकविके काव्यमें जिन जिन भावोंकी प्रधानता है वे अपने युगके अनुकूल थे। क्षात्र-धर्मका जैसा चित्र उसमें अङ्कित हुआ है वह सर्व-

साधारणकी भावनाकी प्रतिच्छाया है। कविने उसमें सर्व-साधारणके भावको ही एक रूपमें दिया है। इस रूपके लिए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती साहित्यसे अवश्य सहायता ली है। चन्द कविने ग्रन्थारम्भमें जिन कवियोंकी वन्दना की है वे तो वन्दनीय हो हैं। परन्तु उनके सिवा उन अज्ञात कवियोंकी भी हम वन्दना करते हैं जिनके कारण लौकिक साहित्य सदैव जीवित बना रहता है। वही विचार-धाराको विच्छिन्न नहीं होने देते। क्षुद्र होनेपर भी उन्हींकी रचनाओंके आधारपर सत्साहित्यकी सृष्टि होती है।

---

(४) सन्तवाणी-सङ्ग्रह

किंतने ही विद्वानोंकी राय है कि जातीय अभ्युदयसे ही साहित्यका अभ्युदय होता है। उदाहरणके लिए प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यके इतिहाससे कई प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। प्राचीन योरपमें पेरीक्लिसके समयमें एथेन्सकी क्षमता खूब बढ़ी-चढ़ी थी। उसी समय ग्रीक-साहित्यकी भी श्री-वृद्धि हुई। आग-स्टसके शासन-कालमें रोम अपनी पार्थिव प्रभुताके लिए जितना प्रसिद्ध था उतना ही साहित्य-सम्पत्तिके लिए। इँग्लैंडका सौभाग्यसूर्य एलिज़ाबेथके समयमें उदित हुआ और उसी समय इँग्लैंडके श्रेष्ठ कवि उत्पन्न हुए। फ्रांसमें चौदहवेंका लुई युग

साहित्य और राष्ट्रीय वैभव, दोनोंके लिए विख्यात है। भारतीय साहित्यमें भी गुप्तवंश और श्रीहर्षके कालमें साहित्यकी जैसी उन्नति हुई वैसी ही उन्नति देशके ऐश्वर्यमें हुई। उपर्युक्त बातें सच होनेपर भी यदि यही सिद्धान्त मान लिया जाय तो आत्माके ऊपर बाह्य-शक्तिका प्राधान्य स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु सच पूछो तो इस मतका समर्थन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। यदि साहित्यका अभ्युदय एकमात्र राष्ट्रशक्तिके ऊपर निर्भर है तो अठारहवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें जर्मनीमें साहित्यकी जो उन्नति हुई वह सम्भव नहीं थी। उस समय जर्मनी राष्ट्रीय शक्तिसे शून्य था। जब नेपोलियनने जर्मन-जातिको पद-दलित कर जेना नगरमें प्रवेश किया तब उस नगरमें जर्मनीका श्रेष्ठ कवि गेटी और श्रेष्ठ दार्शनिक हीगल, दोनों उपस्थित थे। जर्मन-जातिने पीछेसे अपनी बड़ी उन्नति की। उसकी क्षमता भी खूब बढ़ी। पर साहित्यकी जो स्थायी सम्पत्ति गेटी और हीगलके समयमें एकत्र हुई वह फिर कभी न हुई। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ साहित्य जातीय अभ्युदयका फल है। बात यह है कि जब किसी युगमें किसी देशकी जातीय आत्मा जाग्रत होती है तब देशमें एक नवीन शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वह शक्ति कितने ही रूपोंमें प्रकट होती है। पेरीक्लिसके समयमें उस शक्तिकी अभिव्यक्ति एथेन्सकी पार्थिव-समृद्धिके विकासके साथ ही साहित्यकी भी श्रीवृद्धि हुई। कभी कभी वह शक्ति बाह्य व्यवधानोंके कारण किसी एक ही क्षेत्रमें विकसित होती

है। कभी वह देशकी समृद्धिको ही बढ़ा देती है, तो कभी वह साहित्यको ही श्री-सम्पन्न कर देती है। यह चैतन्य शक्ति देशके स्वाभाविक विकासका फल है। हिन्दी-साहित्यके इतिहासमें भी यही बात देखी जाती है। हिन्दी-साहित्यकी उत्पत्ति और वृद्धि हिन्दू-जातिकी हीनावस्थामें ही हुई है। परन्तु वह एक शक्तिका ही फल है। अब विचारणीय यह है कि वह कौन सी शक्ति थी जिससे हिन्दी-साहित्यकी सृष्टि हुई है।

भारतवर्षमें एक हज़ार वर्षतक बौद्ध-धर्मका आधिपत्य था। जब उसके स्थानमें नव हिन्दू-धर्म प्रतिष्ठित हुआ तब वह ब्राह्मणों-का विजय माना गया। बौद्ध-धर्मकी हीनावस्थामें जो नवीन संस्कृत-साहित्य निर्मित हुआ उसमें बौद्ध-धर्मके अत्यन्त ग्लानिकर चित्र अङ्कित किये गये हैं। ब्राह्मणों-द्वारा अङ्कित किये गये ये चित्र बौद्ध-धर्मकी यथार्थ अवस्थाके द्योतक नहीं हो सकते। बौद्ध-मतके अधिकांश अधिकारी विलासितामें भले ही पड़ गये हों, पर उससे बौद्ध-धर्मपर लाञ्छन नहीं लगाया जा सकता। किन्तु विजेता ब्राह्मणोंको इसकी परवा नहीं थी। उन्होंने सभी बौद्ध-यतियोंके जीवनमें पापाचार ही देखा और हिन्दू-समाजमें सदाचार फैलानेका भार अपने ऊपर लिया। नवीन हिन्दू-धर्मकी सभी व्यवस्थायें संस्कृत-भाषामें लिपि-बद्ध हुईं। जन-साधारणसे उनका ज़रा भी सम्पर्क नहीं था। यदि किसी-को किसी धार्मिक कृत्यमें सन्देह होता तो उसे किसी पण्डितसे व्यवस्था लेनी पड़ती। इसका परिणाम यह हुआ कि समाजमें

हिन्दू-धर्मके आदर्शका प्रचार न हो सका। तब धार्मिक कृत्यों-के आडम्बरमें सदाचारका लोप हो गया। स्मृति अथवा दर्शन-शास्त्रको जटिल समस्याओंसे सर्वसाधारणको सन्तोष नहीं हो सकता। उन्हें तो लौकिक साहित्यकी आवश्यकता थी। उनके असन्तोषको दूर करनेके ही लिए हिन्दीमें वैष्णव-साहित्यकी सृष्टि हुई। उनका धार्मिक असन्तोष उससे बिलकुल दूर हो गया।

जब हिन्दीमें धार्मिक भाव प्रकट होने लगे तब पण्डितोंने उसका खूब विरोध किया। संस्कृत-भाषा विद्वानोंकी भाषा थी और हिन्दी सर्व-साधारणकी। अतएव हिन्दी-साहित्यको जनताने तो अपनाया, पर विद्वानोंने उसको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखा। कबीरके निम्न-लिखित दोहोंसे यह बात अच्छी तरह सूचित होती है—

संस्कृतहिं पडित कहै बहुत करै अभिमान।
भाषा जानि तरक करै ते नर मूढ़ अजान॥
सस्किरत संसारेंमे पंडित करै बखान।
भाषा भक्ति दृढावही न्यारा पद निरवान॥

यह बात बिलकुल सच है कि जनताके हृद्गत भाव जनता-की ही भाषामें अच्छी तरह व्यक्त किये जा सकते हैं, सर्वसा-धारण संस्कृत-साहित्यकी ओर पूज्यभाव अवश्य रखते थे, परन्तु उनका हृदय तो उन्हीं भावोंको ग्रहण कर सकता है जो

होनेपर भी हिन्दी-साहित्यका प्रचार बढ़ने लगा। धार्मिक भाव तो वैष्णव-साहित्यके द्वारा प्रचलित हुए और स्वाधीनताका भाव भाटों और चारणोंने जाग्रत रक्खा। चन्द-कवि हिन्दीके प्रथम कवि माने गये हैं। उनकी रचनामें हिन्दू-साम्राज्यकी निर्वाणोन्मुख शक्तिका वर्णन है। उनके बाद राजपूत चारणोंने ही जनताको स्वाधीनताका सन्देश दिया। उनकी रचनायें भले ही लुप्त हो जायँ, पर राजपूतोंका स्वाधीनता-प्रेम उन्होंने ही अक्षुण्ण रक्खा।

हिन्दी साहित्यके आदि-कालमें केवल धार्मिक भावोंकी प्रेरणासे उसकी उन्नति हुई। हिन्दू-साम्राज्यका गौरव नष्ट हो गया था। हिन्दू-जातिने मुसलमानोंका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। यह सच है कि मुसलमानोंके शासन-कालमें भारतीय ऐश्वर्य नष्ट नहीं हुआ था। देश धन-धान्यसे पूर्ण था। भारतीय सम्पत्तिपर भारतीयोंका ही आधिपत्य था। तो भी यह कहना अनुचित नहीं कि हिन्दू-जातिका सौभाग्य-सूर्य अस्त हो गया था। ऐसी अवस्थामें हिन्दीके धार्मिक साहित्यने बड़ा काम किया। यह साहित्य उदार भावोंसे पूर्ण है। इसीने नीचों और अधमोंके लिए भी प्रेमका द्वार खोल दिया। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि हिन्दी-साहित्यके ही द्वारा हिन्दू और मुसलमानोंमें एकताका पहला सूत्रपात हुआ। कुछ विद्वानोंकी राय है कि हिन्दू-समाजमें एकेश्वरवादका प्राबल्य मुसलमानोंके ही कारण हुआ। किसी किसीकी यह भी सम्मति है कि हिन्दी-

साहित्यमें तुकान्त कविताओंका प्रचार मुसलमानोंने ही किया। कुछ भी हो, इसमें तो सन्देह नहीं है कि मुसलमानोंके शासन-कालमें हिन्दी-साहित्यका प्रचार बढ़ा। पर यह कहना कठिन है कि यदि भारतवर्षमें मुसलमानोंका आगमन न होता तो हिन्दी-साहित्यका कैसा स्वरूप होता। हाँ, इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दीके आदिकालमें भक्ति-वादका आविर्भाव अवश्यम्भावी था। हिन्दू-समाजमें जो जीवनधारा बह रही थी उसकी गति मुसलमानोंके आगमन-कालके पहलेसे ही निर्दिष्ट थी। न तो मुसलमानोंके आक्रमणने और न उनके शासन-कालने ही उसकी गतिमें बाधा दी। भारतवर्षका सामाजिक सङ्गठन ही ऐसा था कि राजनैतिक क्षेत्रमें उत्क्रान्ति होनेपर भी भारतीय समाज़ उससे क्षुब्ध नहीं होता था। राजनैतिक क्षेत्रमें उत्थान-पतन होता रहा, पर समाज अपने निर्दिष्ट पथपर स्थिर रहा। जब हिन्दू साम्राज्य नष्ट हुआ और मुसलमानोंका आधिपत्य स्थापित हुआ तब भी उसकी गति स्थिर रही। पानीपतके युद्धने भारतीय साम्राज्यको एक मुग़लोंके हाथ सौंप दिया। पर भारतीय समाजने अपनी सत्ता क़ायम ही रक्खी। यदि समाजकी अवस्था परिवर्तित हुई तो उसका कारण राजनैतिक नहीं था। वह समाजके ही भीतर विद्यमान था। उसे जाननेके लिए हमें तत्कालीन साहित्यका अवलोकन करना होगा।

धर्म साहित्यका उपादान है। बिना धर्मके साहित्यका निर्माण नहीं हो सकता। पृथ्वीके सभी देशोंके साहित्यकी नींव

धर्म है। साहित्यकी पुष्टि और विस्तृति अज्ञेयवाद और अध्यात्मवादसे होती है। विलासिता और जड़वादका प्रावल्य होनेसे साहित्यकी अवनति होती है। भारतवर्षमें एक हज़ार वर्षतक बौद्धधर्मका प्रावल्य रहा। बौद्धधर्मका आविर्भाव दुःखवादमें हुआ है। संसार दुःखमय है, क्योंकि वह जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधिसे ग्रस्त है। संसारमें मुक्ति पानेका उपाय बतलानेके लिए सन्यासका पथ श्रेयस्कर माना गया। जब बौद्धमत शून्यवादमें परिणत हुआ तब लोगोंके चित्तमें केवल संशयावस्था ही थी। बौद्ध-सङ्घोंमे अनाचार फैलने लगा। सर्वसाधारण भी सदाचारकी अवहेलना करने लगे। धर्मके तत्त्व रहस्यमय हो गये। दार्शनिक विद्वान् शुष्क तर्क-जालमें पड़ गये। भगवान् शङ्कराचार्यने हिन्दू-समाजका पुनरुद्धार किया। उनका मत मायावाद-पर अवलम्बित है। यति-धर्म और सन्यास-पथपर उन्होंने भी ज़ोर दिया। सर्व-साधारणको उनके सिद्धान्तोंसे समाधान हो सकता था, पर वे सन्तोष नहीं पा सकते थे। शङ्कराचार्यके पहले शैव और वैष्णव सम्प्रदायका आविर्भाव हो चुका था, पर उनके सिद्धान्त नवीन संस्कृत-साहित्यमें ही उपलब्ध हो सकते थे। सर्व-साधारणका प्रवेश वहाँतक नहीं था। यही कारण है कि यह नवीन संस्कृत-साहित्य सौन्दर्ययुक्त होनेपर भी प्राणहीन ही रहा। इसी समय मुसलमानोंने भारतवर्षपर आक्रमण किया। उनके आगमनके दो सौ साल बाद वर्तमान भाषाओंमें नवीन साहित्यका निर्माण होने लगा। यह साहित्य वैष्णव-

धर्मके आन्दोलनका परिणाम था। थोड़े ही समयमें इसका आधिपत्य समग्र भारतवर्षपर हो गया। नानक, कबीर, दादू, तुलसीदास, चैतन्य, विद्यापति, तुकाराम आदि कवियोंने उसका खूब प्रचार किया। इस धार्मिक आन्दोलनकी विशेषता यह है कि वह प्रवृत्तिको ध्वंस नहीं करता, किन्तु प्रवृत्तिकी अभिव्यक्तिको क्रमशः आध्यात्मिकताकी ओर ले जाना चाहता है। स्वभावकी उपेक्षाकर किसी अति मानवीय आदर्शके अनुसन्धानमे व्यस्त रहनेसे उसका विपरीत ही प्रतिफल होता है। विषयको छोड़कर विषयीको पकड़नेकी चेष्टा करना, मनुष्यको छोड़कर मनुष्यत्वके पीछे दौड़ना और इन्द्रियको छोड़कर रस ग्रहण करते जाना विडम्बनामात्र है। इसीलिए वैष्णवोंने भगवान्‌के अवतार-वादका इतना समादर किया है। वैष्णव-कवि मनुष्योंमें भगवान्‌के स्वरूपको उपलब्ध करना चाहते हैं। रामानुजके बाद साकारोपासना प्रारम्भ हुई। परन्तु स्मार्त-धर्मके प्रभावसे कृत्रिम आचार-व्यवहारोंकी बड़ी प्रबलता हो गई। जाति-भेद खूब बढ़ गया। उच्च-नीचका बहुत ख़याल रक्खा जाता था। मुसलमानोंके कारण यह भेद-भाव और भी बढ़ गया। रामानुजके समयसे रामानन्दके समयतक वैष्णव-सम्प्रदायमें उच्चवर्णके ही लोग दीक्षा ग्रहण करते थे और उन्हें ही दीक्षा देनेका अधिकार था। परन्तु रामानन्दने सर्व-साधारणके लिए धर्मका पथ प्रशस्त कर दिया। धर्म केवल ब्राह्मण और यतियोंकी ही साधनाका विषय नहीं रहा। रामानन्दकी कृपासे

जुलाहे, मोची और डोम भी उसकी साधनामें निरत होने लगे। रामानन्दके ऐसे शिष्योंमें कबीर प्रधान थे। कबीरने भी अपना सम्प्रदाय चलाया। उनका धर्म-मत बहुत उदार है। उसमें ज़रा भी सङ्कीर्णता नहीं है। आचार-व्यवहारकी कृत्रिमता और पूजा-आडम्बरको उन्होंने सर्वथा त्याज्य समझा। इसीके बाद निर्गुण-की उपासना प्रारम्भ हुई। निराकार-वादी साधकोंकी उपासना शास्त्रके अनुशासनसे मुक्त थी, पर भाव और सौन्दर्य-प्रेमसे पूर्ण थी। यही हिन्दीमें सन्तोंका आविर्भाव-काल है।

कबीर, दादू, आदि सन्तोंने जिन भावनाओंका प्रचार किया वे हिन्दू-जातिकी सृष्टि हैं। इन भावनाओंको हिन्दी-साहित्यने अपने परम्परागत-साहित्यसे प्राप्त किया है। इन्हींके कारण आधुनिक भारतवर्ष वैदिक कालके भारतवर्षसे अपना सम्बन्ध अक्षुण्ण रखनेमें समर्थ हुआ है। भारतवर्षमें अनादि कालसे एक भावना-स्रोत बह रहा है। उस स्रोतका उद्गम वैदिक ऋषियोंके तपोवनमें हुआ था। कभी इस स्रोतकी गति तीव्र हुई है और कभी मन्द। परन्तु वह लुप्त नहीं हुई है। वह अभीतक विद्यमान है और जबतक हिन्दू-जातिका अस्तित्व है तबतक इसका लोप नहीं होगा।

यह भावना-स्रोत क्या है, यह जाननेके लिए हमें एक बार अपने पूर्ववर्ती साहित्यपर दृष्टि डालनी होगी। सभी जातियाँ किसी आदर्शकी प्राप्तिके लिए चेष्टा करती हैं। यह आदर्श उनकी सभ्यतामें परिस्फुट होता है, अथवा यह कहना चाहिए कि ज्यों

ज्यों उनकी सभ्यतामें उस आदर्शकी अभिव्यक्ति होती है त्यों त्यों उनकी सभ्यताकी वृद्धि होती है। यह आदर्श क्या है, जीवनकी पूर्णता। प्रत्येक जाति एक 'श्रेष्ठ' मनुष्यकी कामना करती है। जैसे वृक्षमें जड़से लेकर फूल-पत्तेतक सबकी यही चेष्टा रहती है कि फलमें श्रेष्ठ बीज हो, जैसे वृक्षकी समस्त शक्तिका चरम परिणाम बीज होता है, वैसे ही मनुष्य-समाज भी एक मनुष्यमें अपनी शक्तिका चरम परिणाम प्रत्यक्ष देखना चाहता है। वही उसका आदर्श है। उसके आगे उसकी शक्ति नहीं जा सकती है। अब प्रश्न यह है कि भारतवर्षका कौनसा आदर्श था, उसने अपने श्रेष्ठ मनुष्यको किस रूपमें देखा।

भारतीय साहित्यमें जो चरित्र आदर्शरूपसे अङ्कित किये गये हैं उन सभीके जीवनमे हम एक बात पाते हैं। वह है त्यागकी महत्ता। यह त्याग अपने जीवनको रिक्त करनेके लिए नहीं किया जाता, किन्तु उसको पूर्ण करनेके लिए। प्रेमकी चरम सीमा त्यागमें है। धर्मकी भी अन्तिम अवधि त्याग है। इसी भावनाके कारण भारतीय साहित्यमें दुःखका दमन नहीं किया गया है, किन्तु दुःखको अङ्गीकारकर उसे सुखका रूप दिया गया है। जो संग्रह करना चाहता है वह मानो अपने अधिकारकी सीमाको सङ्कुचित करता है। विश्वसे अपना सम्बन्ध छोड़कर एक क्षुद्र सीमामें वह निवास करता है। परन्तु त्यागसे वह विश्वको अपना कर लेता है। तब उसका जीवन कम नहीं होता, किन्तु पूर्ण हो जाता है। जल बिन्दु तभीतक क्षुद्र है जबतक

वह अपनेको पृथक् रखता है, किन्तु ज्योंही वह अपनेको अनन्त समुद्रमें त्याग देता है त्यों ही वह स्वयं अनन्त हो जाता है।

हदमें पीव न पाइए बेहदमें भरपूर।
हद-बेहदकी गम लखै तासे पीव हजूर॥
हदमें बैठा कथत है, बेहदकी गम नाहिं।
बेहदकी गम होयगी तब कछु कथना काहिं॥

वैदिक कालके ऋषियोंने प्रश्न किया—

कस्मै देवाय हविषा विधेम।

उसके उत्तरमें कहा गया—

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वभुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥

अर्थात् जो देव अग्निमें, जलमें, विश्वभुवनमें प्रविष्ट हो रहा है और जो ओषधियोंमें तथा वनस्पतियोंमें है उसे नमस्कार हो। यही विश्व-भावना भारतीय साहित्यका सर्वस्व है। जब लोग विश्वबोधकी इस भावनाको भूल रहे थे तब कबीरको इसीकी चेतावनी देनी पड़ी—

संपुट माँहि समाइया सो साहिब नहिं होय।
सकल भाण्डमें रमि रहा, मेरा साहिब सोय॥

हमें अब विचार यह करना है कि हिन्दी-साहित्यने अपना कौनसा सन्देश दिया है जो वैदिक साहित्य तथा संस्कृत-साहित्यसे अधिक विशेषता रखता है। कहते सङ्कोच होता है—

ऐसो अद्भुत मत कथो, कथो तो धरो छिपाय।
वेद कुराना ना लिखी, कहीं तो को पतियाय ॥

यथार्थ बात यह है कि सत्यका स्वरूप चिरन्तन है। हिन्दी-साहित्यमें साधकोंने अपने जीवनमें उसी सत्यका अनुभवकर उसे प्रकट किया है। उन्होंने मनुष्य-जीवनमें ही सत्यका पूर्ण रूप दिखलाया है। हिन्दी-साहित्यकी उत्पत्ति उस कालमें हुई थी जब भारतीय सत्य अनुभूतिका विषय न होकर तर्कका विषय हो गया था। विद्वान् सत्यको ग्रन्थोंमें खोजते थे, मानव-जीवनमें नहीं। तर्क और विवादसे सत्यकी उपलब्धि नहीं होती। सत्यके धामका मार्ग एकमात्र अनुभूति है—

कबीरका घर सिखर पर, जहा सिलहली गैल।
पाव न टिकै पपीलिका, पडित लादै बैल ॥
बिन पावनकी राह है, बिन बस्तीका देश।
बिना पिण्डका पुरुष है, कहै कबीर संदेश ॥

हिन्दी-साहित्यके साधकोंका यही सन्देश था। उन्होंने मिथ्या आडम्बरको धर्म नहीं समझा। उन्होंने जीवनमें ही सत्यकी उपलब्धिका उपदेश दिया।

काकर पाथर जोरि कै, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय ॥
पूजा सेवा नेम व्रत गुड़ियनका सा खेल।
जब लगि दिल परिचय नहीं, तब लगि संसय मेल ॥

हिन्दी-साहित्यके आदि-कालमें मनुष्य-जीवनमें सत्यकी उपलब्धिके लिए जो चेष्टा की गयी उसका यह फल हुआ कि मनुष्योंमें सत्यको मूर्तिमान् देखनेके लिए विकलता हुई। हिन्दी-में राम और कृष्ण उसी सत्यकी मूर्ति थे। तुलसीदासजीके राम वाल्मीकिके देवोपम मनुष्य नहीं थे, किन्तु उनके आराध्य देव थे। वे साधना और उपासनासे लभ्य हैं। हिन्दीके कुछ विद्वान् तुलसीदासजीके चरित्र-चित्रणपर बड़े मुग्ध हैं। उनके कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि शेक्सपियरके मैकबेथ और पोर्शियाके समान राम या सीता तुलसीदासकी सृष्टि हैं। परन्तु यह बात नहीं है। तुलसीदासजीके राम और सीताका निवास-स्थान आध्यात्मिक जगत्में है। वे मनुष्यके रूपमें भूपर अवतीर्ण अवश्य हुए, पर उन्होंने लीला की है। मनुष्योंकी सुख-दुःख-भावना उन्हें स्पर्श नहीं कर सकती थी। मतलब यह कि राम-चन्द्र और सीता कवित्व कलाके विषय नहीं हैं जिनका विश्लेषण किया जा सके, किन्तु वे साधनाके विषय हैं जिनसे मनुष्य भवसागरको पार कर सकता है। यही बात राधा-कृष्णके विषयमें भी कही जा सकती है। इनके चरित्र आध्यात्मिक हैं, लौकिक नहीं। अतएव लौकिक रीतिसे उनके चरित्रका विश्ले-षण नहीं किया जा सकता। इन्हींके कारण देवत्वमें मनुष्यत्व-का और मनुष्यत्वमें देवत्वका भाव आरोपित हुआ। कबीरके निराकार राम तुलसीदासजीके साकार राम हुए। इसी प्रकार कृष्णका भी रूप वृन्दावन-विहारी हो गया। देवत्व और

मनुष्यत्वका यह सम्मिलन हिन्दीकी एक विशेषता है। इस भावको अन्य साहित्योंने उसीसे ग्रहण किया है।

सन्तवाणी-सङ्ग्रह

चल सतगुरुकी हाट, ज्ञान बुधि लाइये

जिन महापुरुषोंकी वाणी आज संसारमें अमर है उन्होंने मनुष्यके मानसिक भावोंकी रक्षाकर कोई बात कहनेकी चेष्टा नहीं की है। वे जानते थे कि मनुष्य अपने मनसे कहीं बड़ा है अर्थात् मनुष्य अपने मनमें अपनेको जैसा समझता है उसीमें उसकी समाप्ति नहीं है। इसलिए उन्होंने मनुष्यके राज-दरबारमें अपना दून भेजा, द्वारपर द्वारपालको ही मधुर बातोंसे सन्तुष्टकर उद्धारका सरल उपाय खोजनेकी व्यर्थ चेष्टा नहीं की। उन्होंने जैसी बातें कहीं हैं वैसी बातें कहनेका साहस कोई नहीं कर सकता। संसारके कार्योंमें व्यस्त मनुष्य उन्हें सुनकर विरक्त हो जाता है। वह उन्हें अपने कामकी बात नहीं मानता। परन्तु कामकी बड़ी बडी बातें तो काल-स्रोतमें बुद्बुद्की तरह उठती हैं और लीन हो जाती हैं और वे बातें जिनसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है; अभावनीय भी सत्य हो जाता है, बुद्धि-मानोंकी युक्ति-युक्त बातें न होनेपर भी, पागलोंका प्रलाप-मात्र होनेपर भी, मनुष्योंके हृदयपर अपना अक्षय प्रभाव छोड़ जाती

हैं। मनुष्य जितना ही अधिक उनका तिरस्कार करता है, उतना ही अधिक उनका प्रभाव बढ़ता है। यदि वह उन्हें नष्ट करनेकी चेष्टा करता है तो वे अमर हो जाती हैं। देखते ही देखते वे मनुष्यके अन्तर्जगत् और वाह्य जगत् दोनोंपर अधिकार जमा लेती हैं। वे मनुष्योंको एक ऐसे रङ्गमें रंग देती हैं जो फिर छूटनेका नहीं।

सतगुरु है रंगरेज, चुनर मेरी रांगि डारी ॥
स्याही रङ्ग छुड़ाइ के रे, दियो मजीठा रङ्ग
धोये से छूटै नहीं रे, दिन दिन होत सुरङ्ग
भावके कुण्ड नेहके जलमें, प्रेम रङ्ग दइ बोर
चसकी चास लगाइके रे, खूब रँगी झकझोर ॥

मनुष्य जिसे असाध्य समझता है उसीको साध्य करनेके लिए महापुरुष उपदेश देते हैं। जब मनुष्य किसी स्थानमें जाकर रुक जाता है और समझता है कि यही उसका चरम आश्रय है और उसको शास्त्रोंकी मर्यादासे परिमित कर सनातन रूप देनेकी चेष्टा करता है तभी महापुरुष आकर उसकी मर्यादाको तोड देते हैं और कहते हैं कि अभी तुम्हारे जीवन-पथका अन्त नहीं हुआ है, यहां ठहरना मूर्खता है। जो अमृत भवन तुम्हारा यथार्थ निवास स्थान है वह तुम्हारे इन कारीगरोंका बनाया हुआ नहीं है। इनका बनाया घर तुम्हें बन्द रखता है। यह घर नहीं, क़ैदख़ाना है। तुम्हारा भवन वह है जो परिवर्तित होता है

परन्तु टूटता नहीं, जो आश्रय देता है पर तुम्हें बन्द नहीं रखता, जो निर्मित नहीं होता किन्तु स्वयं विकसित होता है, जो शास्त्रोंके शब्द-कौशलकी सृष्टि नहीं है किन्तु अक्षय जीवनकी अनन्त सृष्टि है। उनसे मनुष्य कहता है कि यह पथयात्रा हमारे लिए असाध्य है, क्योंकि हम दुर्बल हैं और क्लान्त हैं। हम यहीं स्थिर होकर रहना चाहते हैं। तब वे बतलाते हैं कि यहां स्थिर होकर रहना, यही तुम्हारे लिए असाध्य है क्योंकि तुम मनुष्य हो, तुम महत् हो, तुम अमृतके पुत्र हो, 'भूमा' को छोड़कर अन्यत्र कहीं तुम्हें सन्तोष नहीं हो सकता।

मैं पंथि एक अपारके, मन और न भावै
सोई पंथि पावै पीवका, जिसे आप लखावै।

जो व्यक्ति छोटे होते हैं वे संसारको असंख्य बाधाओंका क्षेत्र मानते हैं। वे बाधायें उनकी दृष्टिको सङ्कुचित और उनकी समस्त आशाओंको नष्ट कर डालती हैं। इसी लिए वे सत्यको नहीं जान सकते और ये बाधायें ही उनके लिए सत्य हो जाती हैं। किन्तु जो महापुरुष होते हैं वे समस्त बाधाओंको हटाकर सत्यको देख लेते हैं। इसीलिए इन दोनोंके कथनमें बड़ा वैपरीत्य है। जब सब लोग यह कहते हैं कि हम केवल अन्धकार देखते हैं तब वे निर्भय होकर कहते हैं—

प्रेम भगति दिन दिन बधै, सोई ज्ञान विचार
दादू आतम सोधि करि, मथि करि काढ्या सार

जिहि बिरियां यहु सब कुछ भया, सो कछु करौ विचार
काजी पण्डित बावरे, क्या लिखि बँधे भार।

संसारमें हम देखते हैं कि अधिकांश लोग यही समझते हैं कि अधर्मसे ही हमारे जीवनकी रक्षा हो सकती है। अपनी इसी धारणाके वशीभूत हो लोग कितनी ही कुटिल नीतियोंका अनुसरणकर सदैव एक दूसरेको पराभूत करनेको चेष्टा करते हैं। उस समय ये महापुरुष हमें बतलाते हैं—

सबद सा हीरा पटकि हाथसे मुट्ठी भरी कंकरसे
कहैं कबीर सुनो भाई साधो सुरत करो वहि घरसे।

इन महात्माओंके अनुशासनोंको भी सुनना असम्भव है। संसारमें जो लोग जैसे हैं उनको उसी प्रकार देखना, यही बड़ा कठिन है। किन्तु ये यहीं नहीं रुक जाते हैं। ये कहते हैं—सबको अपने समान देखो। इसका कारण यह है कि जहां आत्म-परका भेद है वहा उनकी दृष्टि नहीं जाती, किन्तु जहां दोनोंका मेल है वहीं वे विहार करते हैं। शत्रुको क्षमा करना, यही उपदेश संसारके लिए यथेष्ट है। किन्तु वे यह उपदेश न देकर यह कहते हैं कि शत्रुको भी प्यार करो। जैसे चन्दनका वृक्ष काटनेवालेको सुगन्धि देता है उसी प्रकार तुम भी शत्रुको अपना प्रेम दो। प्रेममें उन्होंने सत्यको पूर्णरूपसे देखा था। प्रेमके लिए वे सर्वस्वका त्याग करनेकी शिक्षा पहले देते हैं। प्रेमका यह पथ साधारण नहीं बड़ा विकट है।

यह तो घर है प्रेमका, खालाका घर नाहिं
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं
सीस उतारै भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव।

मनुष्योंके लिए यह कहना छोटी बात नहीं है कि तुम बड़े हो, अच्छे हो। पर उनका कथन यहां समाप्त नहीं होता। वे कहते हैं, शरवत् तन्मयो भवेत्। जैसे शर लक्ष्यमें बिलकुल प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार तन्मय होकर तुम ब्रह्ममें प्रवेश करो। ब्रह्म ही परिपूर्ण सत्य है और उसीको पूर्णभावसे प्राप्त करना होगा। वे स्पष्ट कह देते हैं कि बिना उसको जाने जो मनुष्य केवल जप-तपमें ही अपना समय व्यतीत करता है वह विनष्ट हो जाता है। उसको बिना जाने हुए जो इस लोकसे अपसृत होता है वह कृपण है, वह दयाका पात्र है।

एक नामको जानि करि, दूजा देइ बहाय।
तीरथ व्रत जप तप नहीं, सत गुरु चरन समाय ॥

महापुरुष उसी स्थानकी बात कहते हैं जो सबका चरम है। किसी प्रयोजनके वशीभूत हो वे सत्यको विकृत नहीं करते। उसी चरम लक्ष्यको सब सत्योंका परम सत्य स्वीकार करना होगा; नहीं तो मनुष्य आत्म-अविश्वासी और भीरु होगा। बाधाकी दूसरी ओर, उसका अतिक्रमणकर, जो सत्य है उस-को चरम लक्ष्य न मानकर बाधाओंके ऊपर ही यदि ध्यान रक्खा

गया तो मनुष्य उन बाधाओंसे ही मिलाप करनेकी चेष्टा करेगा और सत्यको अपनी सीमाके बाहर समझेगा। परन्तु सन्तोंने असाध्य-साधनको ही परम लाभ कहा है और उसीको मनुष्य-धर्म बतलाया है। वही मनुष्यका पूर्ण स्वभाव है और वही सत्य है।

जब लग लालच जीवका, निर्भय हुआ न जाइ।
काया माया मन तजै, तब चैंड़े रहै बजाइ॥

अच्छा, उस सत्यकी खोज कहाँ की जाय और उसके लिए किन साधनोंकी आवश्यकता है। संसार सान्त हैं और वह सत्य अनन्त है। तब क्या वह यहां पाया जा सकता है? वह क्या हमारे लिए असाध्य नहीं है? इसी धारणाके कारण जब मनुष्य उसकी प्राप्तिके लिए व्याकुल हो जाता है तब वह संसारको छोड़कर भटकता रहता है। पर उस अनन्तकी प्राप्ति उसे नहीं होती। सद्‌गुरु उसकी इस मूढ़ताको देखकर कहते हैं—तू कहाँ भटकता फिरता है—

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूंढै वन माहिं
ऐसे घटमें पीव है, दुनिया जानै नाहिं
तेरा साईं तुझमें, ज्यों पुहुपनमें बास
कस्तूरीका मिरग ज्यों, फिरि फिरि ढूंढै घास
ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमकमे आगि
तेरा साईं तुझमें, जागि सकै तो जागि।

परन्तु यह ज्ञान सद्गुरुके बिना दूसरा कौन दे सकता है? इसीलिए सन्तोंकी वाणीमें सद्गुरुकी बड़ी महिमा गायी गयी है। यह हिन्दी-साहित्यका सौभाग्य है कि उसके जीवनके प्रारम्भिक कालमें ऐसे अनेक सन्त हुए जिनके वचनामृतका पानकर संसार तृप्त हो सकता है।

संसारमें अनन्तकालसे विश्वका रहस्य जाननेकी चेष्टा की जा रही है। जो साधक भगवानकी लीलाको पृथ्वीपर प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं, जो उनके आनन्द-रसका उपभोग करना चाहते हैं, वे सहज साधनाओंसे ही उसे प्राप्त करते हैं। कृच्छ्र साधन-मात्रसे उसका रहस्य समझमें नहीं आता। दादूने कहा है कि मैंने न तो घर छोड़ा और न मैं वन ही गया। मैंने कोई भी क्लेश स्वीकार नहीं किया। सहज प्रेमसे मैंने पृथ्वीको उसीके रूपमें देखा—

> ना घर तजा न वन गया ना कुछ किया कलेश
>
> दादू ज्योंही त्यों मिला सहज सुरत उपदेश।

जो इस सहजके साधक होंगे वे विश्वके प्रवाहको अपनी वासना अथवा लोभके वश क्षणभरके लिए भी रोक रखना नहीं चाहेंगे। यदि विश्वका प्रवाह रुक जाय तो समस्त सौन्दर्य-का प्रवाह स्थिर होकर मृत्यु-पुञ्जमें परिणत हो जायगा। जो साधक हैं, वे किसीको भी रोककर, बाधा देकर, स्थिर नहीं करना चाहते। वे मिथ्यासे कलुषित नहीं होते। नदीके प्रवाहके समान मायाका प्रवाह बहता रहता है।

रोक न राखै झूठ न भाखै दादू खरचै खाय।
नदी पूर पुरवाह ज्यों माया आवै जाय।

तब उपाय क्या है? क्या निर्विकल्प ध्यान अथवा कृच्छ्र साधनसे इष्टकी प्राप्ति होती है। सन्तोंमें अग्रगण्य दादू जब धर्म-साधनमें प्रवृत्त हुए तब वे आँख-कान मूंदकर निर्विकल्प ध्यानमें नहीं डूबे। कबीरके समान उन्होंने भी समझा —

आँख न मूदूँ कान न रूधू काया कष्ट न धारू।
अगल बगलमे हँस हँस देखूं सुन्दर रूप निहारू॥

पहले वे असीम और निराकारके ध्यानमें मग्न होकर रूप और रससे दूर हट गये थे। किन्तु उनका सौन्दर्य-प्रिय मन जैसे भावके लिए उत्सुक था वैसे ही रूपके लिए भी व्याकुल था। दोनोंको उपलब्ध करनेके लिए उन्होंने समस्त पृथ्वी खोज डाली। अन्तमें रूपमें ही उन्होंने भावको पाया।

उन्होंने कहा है :—

जा कारण जग ढूँढ़िया सो है घटहि माँहि।
डूबत नहिं प्राण में तातें जानत नाहिं॥

अर्थात् जिसके लिये मैं जगत्भर ढूंढ़ता फिरा, देखता हूं, वह तो घटमें ही है। प्राणमें बिना डूबे घटका यह रहस्य समझमें नहीं आता। इसीलिए इतने दिनोंतक नहीं समझा। अब प्राणके अतल रसमें गोता लगाकर मैंने रूपके रसका आविष्कार कर लिया।

साधारण मनुष्य जड़के समान रूपकी पूजा करता है, परन्तु वह रूपको देखता नहीं। इसीसे विश्वमें सौन्दर्यरसका जो स्वाद, जो आनन्द है, वह व्यर्थ ही हो रहा है। उस आनन्द-को पानेके लिए हमें जागृत होना पड़ेगा। जागृत आत्मा ही उस आनन्दकी उपलब्धि कर सकता है। जो जड़त्वकी निद्रासे अवच्छन्न हैं वे उस स्वादको कहांसे पा सकते हैं। प्रेम न रहनेसे इस रहस्यका उद्घाटन नहीं हो सकता। इसीसे इस आनन्दका पता भी नहीं चलता—

सूते सुक्ख न पाइये प्रेमगंवाया वाद

सब कहने लगे—दादु, तुम तो साधक थे, अब शिल्प-रसिक-मात्र हो। रूप और आकारसे तुम्हारा क्या प्रयोजन ? तुम अरूप, असीमके सेवक हो।

दादूने कहा—हे साधकगण, ये सब जितने रूप हैं वही हमारी जपमाला है। धर्मके व्यर्थ आचारका पालनकर हमने देख लिया कि उससे हमारा अन्तःकरण पूर्ण नहीं हुआ। भगवान्‌के जो सुन्दर नाम हैं उनकी उपयुक्त माला विश्वके यही सब आकार हैं। विश्वके जो आकार निरन्तर परिवर्तित हो रहे हैं उन्हींसे भगवान्‌की मालाका निरन्तर जप हो रहा है:—

माला सब आकारकी, साधू सुमिरइ राम।
करणी करते क्या किया, ऐसा तेरा नाम॥

दादूका कथन है कि घटमें ही सब सुख और आनन्द है। घटके इस आनन्दका स्वाद पाते ही सभी कामनायें पूर्ण हो

जाती हैं। घटके इस आनन्दका जिसने अनुभव नहीं किया वह कभी सुखी भी नहीं हुआ।

लोग कहते हैं, यह संसार दुःखमय है। बतलाओ तो किस लिए तुम्हारे चारों ओर ग्रह नक्षत्र निरन्तर घूम रहे हैं। जो विश्व-चक्र घूम रहा है वही तो अमृत-दान करता है। कोल्हूके घूमनेसे जैसे तेल टपकता है वैसे ही विश्व-चक्रके परिभ्रमणसे भाव-सौन्दर्यका अमृत निस्यन्दित होता है। यदि यह चक्र कभी बन्द हो जाय तो वस्तुके विषम पुञ्जमें पड़कर संसार नष्ट हो जाय। यह चक्र नित्य चल रहा है, इसीलिए अमृत महारसकी धारा भी निरन्तर बहती जा रही है —

घर घर घट कोल्हू चलइ अमी महा रस जाइ ॥

विश्वकी रक्षाके लिए यह नित्य यात्रा हो रही है। जिन्हें हम परिवर्तनशील आकार कहते हैं वे मानो पुकार कर कह रहे हैं कि हम सब अगम और अगोचरके मन्दिरमें यात्रा कर रहे हैं। इस गोचर मूर्ति और सौन्दर्य्यके साथ साथ हम भी उसी अगोचरके मन्दिरकी यात्रा कर रहे हैं। वह रस-मन्दिर दूर नहीं है। वह हमारे अन्तःकरणमें है। जब हम उस मन्दिरमें बैठ जाते हैं तब हम देखते हैं कि हमारे मन्दिरमें मोहन आ गये। वह मोहन कैसे हैं—

पदम कोटि रवि झिल मिल अंगे, अंगे तेज अनन्त।

यह अखिल ब्रह्माण्ड भगवान्का लीला-क्षेत्र है। यहाँ सदैव सौन्दर्य परिस्फुट होते रहते हैं, सर्वदा उत्सव होते रहते हैं।

दादू उसीका अनुभव कर संसारके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये। तब उन्होंने कहा—हे परमेश्वर, तुम्हारा पवन, तुम्हारा चन्द्र, तुम्हारा सलिल, तुम्हारा सूर्य, सभीने मुझको मुग्ध कर रक्खा है। सप्त सागर धरणी धरा, अष्ट कुल पर्वत, मेरु जिधर देखता हूँ उधर ही मुग्ध हो जाता हूँ। हे जगजीवन, तुम्हारा त्रिभुवन देखकर नेत्र शीतल हो गये। इन सभी सौन्दर्यों के भीतर तुम्हारी ही पूजा शोभा पा रही है।

दादूने कहा—मैं रूप और सौन्दर्यके लिए इतना व्याकुल हूँ, पर इससे यह ख़याल मत करना कि मैं रूपसे अतीत, निर्विकल्प और निराकारके धामसे अपरिचित हूँ। वहींके तीर्थमें गोता लगानेसे मैं मोहनके इस विचित्र धामका रहस्य समझ गया हूँ। मैं निवासी तो उसी देशका हूं। केवल रस-मिलनकी आकांक्षासे 'एक-रस' देशसे इस 'विचित्र-रस' देशमें आया हूँ। उसी देशका निवासी होनेके कारण मैं इस सुन्दर विचित्र धामका उपभोग कर सकता हूं। वेद और कुरान इस रहस्यको क्या जानें? रसके इस रहस्य-लोकमें उनका प्रवेश नहीं। अपरूपसे ही रूपकी सार्थकता है। भावमें ही आकारकी सफलता है। तिलका प्राण तेल है, फूलका जीवन सुगन्ध है, दूधके भीतर नवनीत ही जीवन है, परमात्मामें ही आत्माका यथार्थ जीवन है।

दादूका कहना है कि मैंने रूपके अतीतको देख लिया है तभी उस रूपका उपभोग कर सकता हूँ। रूपको पानेके लिए

तृष्णा ही नहीं होती। रूपधामसे आया हूँ तभी हमारा रोम रोम रसकी पिपासासे व्याकुल हो पुकार रहा है--हे विधाता, हमारे हृदयमें भाव-घनकी घटा छाकर रसवर्षण करो। हमारी समस्त देह रसना होकर तुमको आस्वादन करना चाहती है; वाणी होकर तुम्हारा ही यशोगान करना चाहती है; नेत्र होकर तुम्हारे अपरूप रूपको देखना चाहती है। तुमसे विरह हुआ है तभी मैं इस रूप-वैचित्र्यको देख सका हूँ। यही विरहकी दृष्टि है।

हम लोगोंमें विरहकी बड़ी व्याकुलता है। समस्त भुवनको पाकर भी हमें तृप्ति नहीं होती। बात यह है कि यह विरह उसीकी तृष्णा है। वही हमारे भीतर अपना रूप देखना चाहता है। हम उसके दर्पण-मात्र हैं। हममें वह रस पान करना चाहता है। इसी लिए इस दर्पणमें, अमृत रसकी इस अञ्जलिमें विश्वकी पिपासा निहित है। दर्पण न रहनेसे अपना रूप अपनेको गोचर नहीं होता—

दरपन माहे देखिए; अपना सूझइ आप।
दरपन बिना सूझइ नहीं, दादू पुनि रूप आप॥

यदि यह सृष्टि अकेले उसीकी सृष्टि होती तो क्या हमें उससे किसी प्रकारका आनन्द मिलता? यह सृष्टि हमारी भी सृष्टि है। यदि हम नहीं रहते तो वह यह सृष्टि पाता कहाँसे। दूध बछड़ेकी तृप्तिके लिए है, इसलिए दूध बछड़ेकी सृष्टि है। क्या बिना बछड़ेके दूध हो सकता है? बछड़ा होनेसे ही गाय दूध

देती है। दूध देकर गायको सुख होता है और दूध पाकर बछड़े को। बछड़ेके प्रति गायमें जो प्रेम है वही उसके हृदयमें रस होकर भरा रहता है। इसी तरह हमारे प्रेमसे ही विधाताकी सृष्टि है। यदि हमारे प्रति विधाताका कोई प्रेम न रहे तो उसकी सृष्टि भी असम्भव है। विधाताकी शक्ति प्रेमके द्वारा ही व्यक्त होती है। इसीसे यह विश्व प्रेम-रससे पूर्ण है। इसीसे वह हमारी भी सृष्टि है। विश्व-सौन्दर्यके उपभोगमें हमारा पूरा अधिकार है। क्या सृष्टिमें और क्या भोगमें ब्रह्मके बिना हम और हमारे बिना ब्रह्म अपूर्ण है। यदि हम न रहे तब उसकी नाम-रूप सार्थकता कहाँसे हो। नामके उच्चारणसे ही तो नामकी सार्थकता है—

मैं नाहीं तब नाव क्या, कहा कहावै आप।

जैसे नादके बिना श्रुति और श्रुतिके बिना नाद व्यर्थ है, जैसे नेत्रके बिना रूप और रूपके बिना नेत्र व्यर्थ हैं, जैसे रसनाके बिना स्वाद और स्वाद बिना रसना व्यर्थ है, ठीक ऐसा ही सम्बन्ध हमारे और उसके बीच है—

श्रवणा राते नाद सों नैना राते रूप।
जिह्वा राती स्वाद सों दादू एक अनूप॥

चिरकालसे असीम इस रूप-सीमाके लिए और सीमा असीमके लिए व्याकुल है। यही विश्वव्यापी क्रन्दन है—

बास कहै हम फूलको पाऊँ फूल कहै हम बास।
भास कहै हम सतको पाऊँ सत कहै हम भास॥

रूप कहै हम भावको पाऊँ भाव कहै हम रूप।
आपसमें दऊ पूजन चाहे पूजा अगाध अनूप ॥

साधक विरक्त होता है और प्रेमी भी। जो अनित्य है उसे वह जाने देता है। जो नित्य है वह प्रेमके बलसे ही बना रहेगा। जो बह चला उसके पीछे पीछे दौड़नेसे लाभ क्या।

दादू रहता राखिए बहता देय बहाय।
बहते सङ्ग न जाइए रहत सों लव लाय ॥

ब्रह्मके स्वरसे स्वर बाँध लेनेपर सभी सहज हो जाते हैं। यही यथार्थ सेवा है। इसी सेवा-व्रतको ग्रहण करनेके कारण पृथ्वी सस्य-श्यामला रहती है और रवि और शशि प्रकाशमान होते हैं, नहीं, तो क्या धरित्रीने कोई साधन किया है? नील आकाशने क्या संन्यास लिया है? किस साधनाके बलसे रवि और शशिने ज्योतिरूपी अमृत प्राप्त किया है?

धरतीका साधन किया अम्बर कौन संन्यास।
रवि शशि किस आरम्भ तें अमर भये निज दास ॥

सहज साधनका एकमात्र मार्ग यही ब्रह्मके साथ स्वर मिलाना है। क्योंकि ब्रह्म 'महागुणी' है और उसकी यह सृष्टि ही सङ्गीत है। इस विश्वको धूल-मिट्टी अथवा जड़पुञ्ज नहीं समझना चाहिए। स्थूल दृष्टिसे तो यही प्रतीत होता है, पर है यह परम शिल्प। उसीके स्वर-सङ्गीतसे आज भी विश्वमें राग और वर्णकी छटा है। जो ओंकार आदि सङ्गीत है वह आज भी घटोंमें—रूप, आकार तथा सीमामें—बज रहा है। जो ब्रह्म है वह

तो निरञ्जन है। परन्तु यह ओङ्कार-सङ्गीत ही उसका आकार है। जितने रङ्ग और जितने रूप हैं सब इसीके विस्तार हैं।

आदि सबद ओंकार है बोलेंगे घट माहिं ॥
सबद जरे सो मिलि रहै एक रस पूरा
निरञ्जन निराकार है ओङ्कार आकार
द'दू सब रँग रूप सब सब विधि विस्तार ॥

सङ्गीतकी यह सृष्टि सुखकर नहीं है। जिसके हृदयका आश्रय ग्रहणकर सौन्दर्य, रस, सङ्गीतकी सृष्टि होती है उसके हृदयमें अनन्त ज्वाला है। जबतक सङ्गीत अपनेको पूर्णरूपसे प्रकाशित नहीं करता तबतक मनमें जो गुप्त गुञ्जन है वही दुःख है।

पार न देवै आपणा गुप्त गुज मन माहिं।

ब्रह्म स्वयं इसी ज्वालामें अहर्निश मग्न रहता है। उसके मनका भाव असीम है। उसको सीमा और रूपमें प्रकाश करना होगा। यह कम व्यथा नहीं है। ब्रह्म तो असीम और अरूपसे अपने सङ्गीतसे रूप और सीमाके वैचित्र्यमें आता है। साधकको उसी सङ्गीतसे सीमा और रूपसे असीम और अरूपकी ओर यात्रा करनी होगी। वह जिस पथसे आता है उसी पथपर जानेसे तो उसे कभी नहीं देख सकते। उसके साथ भेंट करनेके लिए हमें उलटे पथसे जाना होगा। यही साधककी ज्वाला है। साधकके पास ससीम भाषा है। उसके छन्द और स्वरमें किसी प्रकार असीमके भाव व्यक्त करने होंगे। ससीम रेखा और वर्णमें

असीमका भाव-चित्र स्फुट करना होगा। यही विधातासे मिलनेका सङ्केत है। इसीलिए ब्रह्म-रस-पिपासु ब्रह्मकी सृष्टिका अनुकरण न कर नये नये भाव-रसकी सृष्टि करते हुए ब्रह्मकी ओर अग्रसर होते रहते हैं। ब्रह्मकी ज्वाला यह है कि वह असीमसे ससीमकी ओर जाना चाहता है और हमारी ज्वाला यह है कि हम सीमासे असीमको जाना चाहते हैं।

जै सु नाथ निरंजन बाबा, जै सु अलख अभेव।
जै सु जोगी सबकी जीवनि, जै सु जगमें देव।
जै सु आप उपावन हारा, जै सु जगपति साईं।
जै सु अलख अनूप है, जै सु मरणा नाहीं।
जै सु अविचल राम है, जै सु अमर अलेख।
जै सु अविगत आप है, जै सु जगमें एक।
जै सु अविगत आप है, जै सु अपरम्पार।
जै सु अगम अगाध है, जै सु सिरजन हार॥
जै सु निज निरकार है, जै सु निज निर्धार।
जै सु निर्गुण सई, जै सु निज तन सार।
जै सु पूरण ब्रह्म है, जै सु पूरण हार।
जै सु पूरण परम गुर, जै सु प्राण हमार।
जै सु जोति सरूप है, जै सु तेज अनन्त।
जै सु झिलि मिलि नूर है, जै सु पुंज रहन्त॥
जै सु परम प्रकाश है, जै सु परम उजास।
जै सु परम उदोत है, जै सु परम विलास॥

साधककी यह ज्वाला उसकी आत्माकी विपुलताका प्रमाण है। साधक समस्त पृथ्वीको ग्रास करना चाहता है। उसकी आत्माकी क्षुधा अपरिमित है। पवन, जल सभीको उसने पान कर लिया है। धरित्री, आकाश, चन्द्र, सूर्य, अग्नि ये पाँचों मिलकर उसके एक ग्रास-मात्र हैं।

पवना पानी सब पिया धरती अरु आकास
चन्द सूर पावक मिले पांचों एक करास।

इस असीम तृष्णाको एक-मात्र असीम भाव ही तृप्त कर सकता है, जिस भावकी न कोई सीमा पा सकता है और न जिसका कोई मूल्य है।

वार पारको ना लहै कीमति लेखा नाहिं।

इसी असीम भाव-रससे हमारी तृष्णा मिट सकती है। क्षुद्र, ससीम, सुखका रस पान करनेसे यह तृष्णा मिटनेकी नहीं। इसीलिए दादूने प्रार्थना की कि हे प्रभो, आकाशपूर्ण आलोकका प्याला भर भरकर दो—

अल्ला आले नूरका भरि भरि प्याला देहु।

उसे छोड़कर हमारी इस तृष्णाको कौन दूर कर सकता है, क्योंकि हमारी यह तृष्णा उससे किसी प्रकार कम नहीं है। जैसे हमारे राम अपार हैं वैसे ही हमारी भक्ति भी अपार है। इन दोनोंका कोई परिमाण नहीं है। जैसे निर्गुण राम हैं वैसी ही निरञ्जन हमारी भक्ति है। जैसे परिपूर्ण राम हैं वैसी ही पूर्ण हमारी भक्ति है।

जो आनन्द-रसका पान करते हैं उन्हें उसका मूल्य भी देना पड़ता है। जो आनन्द लाभ किया जाता है उसीके सङ्गीत-में उसका मूल्य देना पड़ता है। कवि और कोविद्‌की ज्वाला यही है।

सोई सेवक सब जरै, जेता रस पीया
दादू गुझ गभीरका परकास न कीया

अर्थात् जो आनन्द-रसका पान करते हैं उन्हें भी, जबतक उनके हृदयकी गुञ्जन ध्वनि बाहर व्यक्त नहीं होती, जलन रहती है, किन्तु आशा यही है कि यह ज्वाला और स्तुति ही इस अनित्य संसारका नित्य धन है। जिस आनन्द-धारामें साधक डूब जाते हैं उसकी तो इति हो जाती है, किन्तु साधककी ज्वाला नित्य सङ्गीत रूपमें विद्यमान रहती है।

जरणा जोगी जुग जीवै झरणा मरि मरि जाय।

साधनाकी सबसे बड़ी बात यह है कि जो साधक होता है वह अपनेको अपना नहीं जानता। जो अपने सम्बन्धमें खूब सचेत रहता है, जो यह समझता है कि हम चरमतक पहुँच गये हैं, उसके और कुछ होनेकी आशा नहीं रहती। जो मनुष्य उड़ता रहता है वह यह नहीं जानता कि हम चल रहे हैं। वह यही कहता है कि हमने तो यह रास्ता पकड़ लिया है। परन्तु जो यह कहते हैं कि हम पहुँच गये हैं और तुम सब इसी रास्ते-से चले आओ उन्होंने रास्तेको नहीं देख पाया है।

मानुष जब उड़ चालते कहते मारग माहिं

दादू पहुँचे पन्थ चल कहहिं सो मारग नाहिं।

सच बात यह है कि जो यथार्थ गुरु हैं वे कोई नवीन पद्धति या पन्थ नहीं चलाते। वे मनुष्योंके स्वभाव-वैचित्र्यको समझते हैं, इसलिए उनको किसी एक पथ-विशेषपर चलनेके लिये बाध्य नहीं करते। वे सभीके हृदयमें नवीन प्रेम, नवीन आनन्द और नवीन आशा जाग्रत करते हैं। तब सभी अपने अपने भावोंसे अग्रसर होते हैं। यही मुक्ति-दाता गुरुके लक्षण हैं और यही उनकी मुक्ति-दीक्षा है।

प्रकृतिमें अपरूप सौन्दर्यकी जो नित्य सृष्टि हो रही है उसका कारण यह है कि प्रकृति अज्ञ है। मनुष्यके लिए कठिनताकी बात यह है कि वह सचेतन है। वह जब इसी अति-चेतनाके सेतुसे पार होकर परम आनन्द-सृष्टिमें प्रवृत्त हो जाता है तब उसकी सृष्टि अपरूप हो जाती है। प्रकृतिका सौन्दर्य देखकर नेत्र शीतल हो जाते हैं। उसीसे हम समझते हैं कि इस सृष्टिका मूल्य क्या है। आकाशमें स्वामी बैठे हैं। असीम और अनन्तका हाल न जानकर भी पृथ्वी हरित वस्त्र धारणकर अपरूप सौन्दर्यकी सृष्टि कर रही है, नित्य नूतन शृङ्गार कर रही है। अपार और अनन्त पृथ्वी पुष्पिता और सफला वसुधा हो गई है। गगनके गर्जनसे जल-स्थल पूर्ण हो गये। कालका मुख कालाकर स्वामी हमारे लिए सदैव सु-काल (सुखमय) रहते

हैं। हे दीनदयालो, तुम्हारे घरमें प्रेमका मेघ सघन हो गया है, अब तुम प्रेम धारा बरसाओ—

अज्ञा अपरम्पारकी बसि अम्बर भरतार
हरे पटम्बर पहिर करि धरती करै सिंगार
बसुधा सब फूले फलै पृथी अनन्त अपार
गगन गरजि फल थल भरे दादू जय जयकार
काला मुँह करि कालका सांग सदा सुकाल
मेव तुम्हारे घर घना बरसहु दीनदयाल।

हिन्दी-साहित्य और मुसलमान कवि

सभी देशोंके इतिहासमें भिन्न भिन्न जातियोंके पारस्परिक सङ्घर्षणके उदाहरण मिलते हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि ऐसे ही सङ्घर्षणसे सभ्यताका विकास होता है। भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न अवस्थाओंके कारण विभिन्न जातियोंके विभिन्न आदर्श होते हैं। जब एक जातिका दूसरी जातिके साथ मिलन होता है तब उसका सामाजिक जीवन जटिल हो जाता है, पर इसी जटिलतासे सभ्यताका विकास होता है। दो जातियोंमें परस्पर भिन्नता रहनी चाहिए, परन्तु जब उन्हें एक ही स्थानमें रहना पड़ता है तब विवश होकर उन्हें कोई एक ऐसा सम्बन्ध-सूत्र खोजना पड़ता है जिससे उस भिन्नतामें भी एकता स्थापित हो जाय। यही सत्यका अन्वेषण है, बहुमें एक और व्यष्टिमें समष्टि।

भारतवर्षके इतिहासमें महत्व-पूर्ण घटना भिन्न-भिन्न जातियोंका पारस्परिक सम्मिलन है। अन्य देशोंकी अपेक्षा भारतमें जाति-प्रेमकी समस्या अधिक कठिन थी। योरपमें जिन जातियोंका सम्मिलन हुआ है उनमें इतनी विषमता नहीं थी। उनमेंसे अधिकांशकी उत्पत्ति एक ही शाखासे हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें जातिगत विद्वेष और विरोधकी मात्रा कम नहीं थी, तोभी कदाचित् उनमें वर्णभेद नहीं था। यही कारण है कि इँग्लैंडमें सैक्सन और नार्मन जातियोंमें इतना शीघ्र मिलाप होगया। सच तो यह है कि सभी पाश्चात्य जातियोंमें वर्ण और शारीरिक गठनकी समता है। यही नहीं, किन्तु उनके आदर्शोंमें भी अधिक भेद नहीं है। इसीलिए उनके पारस्परिक सम्मिलनमें बाधा नहीं आती। परन्तु भारतवर्षकी यह दशा नहीं है। प्राचीन कालमें श्वेताङ्ग आर्योंका कृष्णकाय आदिम निवासियोंसे मिलाप हुआ। फिर द्रविड-जातिसे उनका सङ्घर्षण हुआ। उस समय द्रविड-जाति भी सभ्य थी और उनका आचार-व्यवहार आर्योंके आचार व्यवहारसे सर्वथा भिन्न था। यह विषमता दूर करनेके लिए तीन ही उपाय थे। एक तो यह कि इन जातियोंका नाश ही कर दिया जाय। दूसरा यह कि उन्हें वशीभूतकर उनपर अपनी सभ्यताका प्रभाव डाला जाय और तीसरा यह कि एक ऐसे वृहत् सत्यका आविष्कार किया जाय जहाँ किसी भी प्रकारकी भिन्नता नहीं रह सकती। भारतीय आर्योंने इस तीसरे उपायका अवलम्बन किया। भारतवर्षके

इतिहासमें जिन महापुरुषोंका नाम अग्रगण्य है उन्होंने यही कार्य किया है। भगवान् बुद्धने विश्व-मैत्रीकी शिक्षा देकर भारतके राष्ट्रीय जीवनमें एकताका प्रचार किया। जब भारतपर मुसलमानोंका आक्रमण हुआ तब देशमें एक नये आन्दोलनका जन्म हुआ। उस आन्दोलनका उद्देश था जातीय और धार्मिक विरोधको भूलकर नारायणके प्रेममें सभी नरोंको भ्रातृ रूपसे ग्रहण करना। हिन्दी-साहित्यपर इस आन्दोलनका जो प्रभाव पड़ा उसीकी चर्चा यहाँ की जाती है।

भारतपर मुसलमानोंका आधिपत्य स्थापित नहीं हो गया। समस्त हिन्दू-जातिने—विशेषकर राजपूतों और मरहठोंने—बड़ी दृढ़तासे उनका आक्रमण रोका था। मुसलमानोंका पहला आक्रमण सन् ६६४ ईस्वीमें हुआ। उस समय मुसलमान मुलतानतक ही आकर लौट गये। उनका दूसरा आक्रमण सन् ७११ में हुआ। तब उन्होंने सिन्धु-देशपर अधिकार कर लिया था। परन्तु कुछ समयके बाद राजपूतोंने उनको वहाँसे हटा दिया। इसके बाद महमूद गजनवीका आक्रमण हुआ। उस समय भी मुसलमानोंका प्रभुत्त्व यहां स्थापित नहीं हुआ। सन् ११९३ से मुसलमानोंका शासन युग प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारतमें उनका साम्राज्य स्थापित हो जानेपर भी दक्षिणमें हिन्दू साम्राज्य बना रहा। विजयनगरका पतन होनेपर कुछ समयके लिए समग्र भारतपरसे हिन्दू-साम्राज्यका लोप हो गया। परन्तु सत्रहवीं सदीमें मरहठे प्रबल हुए और अन्तमें उन्होंने फिर हिन्दू-

साम्राज्यकी स्थापना की। इसी समय अँगरेज़ोंका प्रभुत्व बढ़ा और कुछ ही समयमें हिन्दू और मुसलमान दोनोंको अँगरेज़ोंका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

यद्यपि भारतवर्षमें मुसलमानोंका साम्राज्य सन् ११९३ से प्रारम्भ होता है तथापि कितने ही मुसलमान साधक और फ़क़ीर इन आक्रमणकारियोंके पहले ही यहाँ आ चुके थे। आठवीं सदीमें जब मुसलमानोंने भारतका एक भाग विजय कर लिया तब तो हिन्दुओं और मुसलमानोंमें घनिष्ठता हो गई। उस समय मुसलमानोंका अभ्युदय बढ़ रहा था। बग़दाद विद्याका केन्द्र हो गया था। कितने ही भारतीय विद्वान् ख़लीफ़ाके दरबारतक जा पहुंचे। वहाँ उन लोगोंकी बदौलत संस्कृतके कितने ही ग्रन्थरत्नोंका अनुवाद अरबी-भाषामें हुआ। भारतवर्षमें मुसलमानोंने केवल अपनी प्रभुता ही स्थापित नहीं की, किन्तु अपने धर्मका भी प्रचार किया। तभी हिन्दू और मुसलमानका विरोध आरम्भ हुआ। इस विरोधको दूर करनेका सबसे अधिक प्रयत्न किया कबीरने। कबीरने देखा कि भारतवर्षमें हिन्दू और मुसलमानका विरोध बिलकुल अस्वाभाविक है।

कोइ हिन्दू कोइ तुरुक कहावै एक जमींपर रहिये।
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिये॥
वेद किताब पढ़े वे कुतबा वे मालना वे पांड़े।
बिगत बिगत कै नाम धरायो यक माटी के भांड़े॥

कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनोंका हाथ पकड़कर एक ही पथपर ले जाना चाहते थे। परन्तु दोनों इसका विरोध करते थे। कबीरको उनकी इस मूढ़ता—इस धर्मान्धता—पर आश्चर्य होता था। उन्होंने देखा कि इस विरोधाग्निमें पड़कर दोनों नष्ट हो जायँगे।

साधो देखो जग बौराना।

साच कहो तो मारन धावै झूटे जग पतियाना
हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहिमाना।
आपसमें दोउ लरि लरि मूये मरम न काहू जाना
हिन्दू दया मेहरकी तुरकन, दोनों घट सों त्यागी।
वै हलाल वै झटका मारैं, आग दोऊ घर लागी
या विधि हसत चलत हैं हमको आप कहावै स्याना।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, इनमें कौन दिवाना॥

स्वदेशकी कल्याण-कामनासे प्रेरित हो कबीर उस पथको खोज निकालना चाहते थे जिसपर हिन्दू और मुसलमान दोनों चलकर अपनी आत्मोन्नति कर सकें। परन्तु हिन्दू एक ओर जा रहे थे तो मुसलमान ठीक उसके विपरीत जा रहे थे। कबीर-ने उनको चेतावनी दी—

अरे इन दुहु राह न पाई।
हिन्दूकी हिन्दुवाई देखी तुरकनकी तुरकाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई॥

इसीलिए कबीरने हिन्दूकी हिन्दुवाई और तुर्ककी तुरकाई दोनोंको छोड़ दिया। उन्होंने केवल मनुष्यत्वको ग्रहण किया—

हिन्दू कहूं तो मैं नहीं मुसलमान भी नाहिं।

उन्होंने दोनोंको एक ही दृष्टिसे देखा—

सम दृष्टी सतगुरु किया मेटा भरम विकार।
जहं देखौं तह एक ही साहेबका दीदार॥
सम दृष्टी तब जानिये सीतल समता होय।
सब जीवनकी आतमा लखें एक सी सोय॥

कबीरका प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ। हिन्दू और मुसलमान सम्मिलनकी ओर अग्रसर हुए। भाषाके क्षेत्रमें इनका सम्मिलन बहुत पहले हो चुका था। अमीर खुसरोने इस एकताकी नींव को दृढ़ किया। हिन्दीमें कागज़ पत्र, शादी-ब्याह, खत-पत्र आदि शब्द उसी सम्मिलनके सूचक हैं। इसके बाद जायसीने मुसलमानोंको हिन्दी-साहित्यमें सौन्दर्यका दर्शन कराया।

तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि
जामें मारग प्रेमका सबै सराहै ताहि॥

मलिक मुहम्मद जायसी केवल कवि नहीं थे, साधक भी थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनकी पूजा करते थे। कितने ही लोग उनके शिष्य थे। अतएव यह कहना नहीं होगा कि हिन्दी भाषामें रचनाकर उन्होंने मुसलमानोंको हिन्दू-जातिसे प्रेम करनेकी शिक्षा दी। जायसीके धार्मिक विचारोंका आभास उनके अखरावटसे मिलता है। अपने धर्मपर अविचल रहकर भी

कोई दूसरेके धर्मको श्रद्धाकी दृष्टिसे देख सकता है। यही नहीं, किन्तु वह उसमें सत्यका यथार्थ और अभिन्न रूप देख सकता है। यह बात जायसीकी कृतिसे प्रकट होती है। हिन्दू भी मुसलमानोंकी तरह ईश्वरकी सन्तान हैं। यही नहीं, उनका भी धर्म ईश्वर-प्रदत्त है। अतएव वे हमारी घृणाके पात्र नहीं हैं।

तिन्ह संतति उपराजा भातिहि भाति कुलीन।
हिन्दू तुरक दुनउ भये अपने अपने दीन ॥

जायसीने जो शिक्षायें दी हैं उनमें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जिसे कोई हिन्दू स्वीकार न कर सके। ईश्वरकी सर्वव्यापकतापर उन्होंने कहा है—

जस तन तस यह धरती जस मन तइस अकास।
परमइस तेहि मानस जइस फूल मँह बास।

जो उसका दर्शन करना चाहते हैं उन्हें अपने हृदयको सदैव स्वच्छ रखना चाहिए—

तन दरपन कहँ साज दरसन देखा जो चहइ
मन सों लीजइ माज, महमद निरमल होम किया।

उन्होंने एकत्ववादकी सदैव शिक्षा दी है—

एक कहत दुइ होय दुइसे राज न चलि सकइ
बीच तें आपहु खोय महमद एकाग्र होइ रहइ

भोग्य और भोक्तामें भी उन्होंने कोई भिन्नता नहीं देखी है—

सबइ जगत दरपन कइ लेखा
आपुहि दरपन आपहु देखा

आपुहि बन अउ आपु पखेरू
आपुहि सउजा आप अहेरू
आपुहि पुहुप फूल-गति फूले
आपुहि भवँर बास-रस भूले
आपुहि फल आपुहि रखवारा
आपुहि सो रस चाखन-हारा
आपुहि घटघट महँ मुख चाहइ
आपुहि आपन रूप सराहइ
आपुहि कागद आपु मसि आपुहि लिखनहार
आपुहि लिखनी अखर आपुहि पँडित अपार

जिस आन्दोलनके प्रवर्तक कबीर थे उसकी पुष्टि जायसीके समान मुसलमान साधकों और फ़क़ीरोंने की। भारतमें राजकीय सत्ता स्थापित करनेके लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रयत्न करते रहे। परन्तु देशमें दोनोंका स्थ न निर्दिष्ट हो चुका था। भारतसे मुसलमानोंका उतना ही सम्बन्ध हो गया जितना हिन्दुओंका। प्रतिद्वन्द्वी होनेपर भी इन दोनोंके धर्मोंका प्रवेश भारतीय सभ्यतामें हो गया। हिन्दी और फ़ारसीसे उर्दूकी सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमानकी कलाने मध्ययुगमें एक नवीन भारतीय कला सृष्टि की। देशमें शान्ति भी स्थापित हुई। कृषकोंका कार्य निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्यकी वृद्धि होने लगी। देशमें नवीन भावका यथेष्ट प्रचार हो गया। अकबरके राजत्व-कालमें इसका पूरा प्रभाव प्रकट हुआ। उसके

शासनकालमें जिस साहित्य और कलाकी सृष्टि हुई उसमें हिन्दू और मुसलमानका व्यवधान नहीं था। अकबरके महामन्त्री अबुलफ़ज़लने एक हिन्दू-मन्दिरके लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था उसका भावार्थ यह है—हे ईश्वर, सभी देव मन्दिरोंमें मनुष्य तुम्हींको खोजते हैं, सभी भाषाओंमें मनुष्य तुम्हींको पुकारते हैं। विश्व ब्रह्मवाद तुम्हीं हो और मुसलमान-धर्म भी तुम्हीं हो। सभी धर्म एक ही बात कहते हैं कि तुम एक हो, तुम अद्वितीय हो। मुसलमान मस्जिदोंमें तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई गिर्जाघरोंमें तुम्हारे लिए घण्टा बजाते हैं। एक दिन मैं मस्जिद जाता हूँ और एक दिन गिर्जा। पर मन्दिर मन्दिरमें मैं तुम्हींको खोजता हूं। तुम्हारे शिष्योंके लिए सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन। अबुलफ़ज़लका यह उद्‌गार मध्ययुगका नव सन्देश था। हिन्दीमें सूरदास और तुलसीदासने अपने युगको इसी भावनासे प्रेरित हो मनुष्य-जीवनमें श्रेष्ठ आदर्श दिखलाया। इसी भावको ग्रहणकर मुसलमानोंमें रहीमने कविता लिखी। निम्न लिखित पद्योंसे प्रकट हो जाता है कि रहीमने हिन्दू-भावको कितना अपना लिया था।

अनुचित बचन न मानिए जदपि गुराइस गाढ़ि।
है रहीम रघुनाथ ते सुजस भरत को बाढ़ि॥
कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की वधू, क्यों न चंचला होय॥
गहि सरनागति राम की भवसागर की नाव।

रहिमन जगत उधार कर और न कछू उपाव ॥
जो रहीम कारिबो हुतो ब्रज को इहै हवाल ।
तौ काहे कर पर धरयो गोबर्धन गोपाल ॥

मुग़लोंके शासन-कालमें हिन्दी-साहित्यकी जो श्रीवृद्धि हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारतको स्वदेश समझने लगे थे। न तो हिन्दुओंने तत्कालीन राज-भाषा-की उपेक्षा की और न मुसलमानोंने हिन्दू-साहित्य की। उस समय वैष्णव सम्प्रदायके आचार्योंने धार्मिक विरोधको भी हटानेकी चेष्टा की। कितने ही मुसलमान साधक श्रीकृष्णके उपासक हो गये। इनमें रसखानकी भक्तिने हिन्दीमें रसकी धारा बहा दी है। उनका निम्नलिखित पद्य बडा प्रसिद्ध है।

मानुस हों तो वही रसखान बसौं मिलि गोकुल गोप गुवारन ।
जो पशु हेउँ कहा बसु मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।
पाहन हों तो वही गिरि को जु कियो ब्रज छत्र पुरन्दर कारन ।
जो खग होउँ बसरो करौं वही कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

मुसलमानोंके लिए यह प्रेम कम साहसका काम नहीं था। ताजका यह कथन सर्वथा उचित था—

सुनौ दिलजानी मेरे दिलकी कहानी तुम
दस्म ही बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।
देव-पूजा ठानी मैं नमाजहू भुलानी तजे
कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं।

श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै
ताणा नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं।

इसी प्रेमसे प्रेरित हो कितने ही मुसलमान कवियोंने हिन्दी साहित्यको अपनी रचनाओंसे अलङ्कृत किया है।

राजनीतिके क्षेत्रमें हिन्दू और मुसलमान जातिका विरोध नहीं दूर हुआ। समाजके क्षेत्रमें भी दोनोंका सङ्घर्षण बना रहा। तो भी साहित्यके क्षेत्रमें दोनोंने सत्यको ग्रहण करनेमें सङ्कोच नहीं किया। इसी चिरन्तन सत्यके आधारपर—इसी ऐक्यमूलक आध्यात्मिक आदर्शकी भित्तिपर—भारतने अपनी जातीयताकी स्थापना की है। इस जातीयतामें सभी जातियाँ अपने अस्तित्वको स्थिर रख सकती हैं। इसमें सम्मिलित होनेके लिए हिन्दूओंने अपना हिन्दुत्व नहीं छोड़ा और न मुसलमानोंने अपने धार्मिक और सामाजिक संस्कारोंका परित्याग किया। परन्तु इन दोनोंका मिलन अनन्त सत्यके मन्दिरमें हुआ, जहाँ बाह्य आचार-व्यवहार और कृत्रिम जाति-भेदके बन्धनसे मनुष्य-जातिकी एकता भिन्न नहीं होती। यह एकता काल्पनिक नहीं है। यह हिन्दू और मुसलमानके जीवनमें अभीतक काम कर रही है। सत्यकी सीमा सङ्कुचित कर देनेसे ही इनमें परस्पर विरोध होता है। ईश्वरमें ही सभी विरोधोंका मिलन होता है। इसीलिए उसीको अपना लक्ष्य मानकर भारतने अपनी

जातीयताकी सृष्टि की है। यहाँ एक ओर समाजमें आचार-विचारकी रचना होती आई है और दूसरी ओर मनुष्की एकताको लोग स्वीकार करते आये हैं। एक ओर भिन्न भिन्न वर्णोंमें एक ही पंक्तिमें बैठकर खाने-पीने तकका निषेध किया गया है और दूसरी ओर आत्मवत् सर्वभूतेषुकी शिक्षा दी गई है। आधुनिक युगमें जाति-भेदकी जो समस्या उपस्थित हो गई है उसके सम्बन्धमें रवीन्द्र बाबूने बिलकुल ठीक लिखा है कि आजकल जाति-विद्वेष खूब बढ़ गया है। सभ्य जाति अपनी शक्तिके मदसे उन्मत्त हो निर्बल जातियोंपर अत्याचार करनेमें सङ्कोच नहीं करती। अभी मनुष्यत्वका विचार उनके लिए उपहासास्पद है। परन्तु जब जातीय स्वातन्त्र्य, परजाति-विद्वेष और स्वार्थसिद्धिका वीभत्स रूप दृष्टि-गोचर होने लगेगा तब मनुष्य यह समझेगा कि मनुष्यकी यथार्थ मुक्ति किसमें है। नरमें नारायणको उपलब्ध करनेमें ही उसकी मुक्ति है, इसीमें उसका कल्याण है। इसके लिए अधिक तर्क करनेकी आवश्यकता नहीं।

बिन्दु मो सिन्धु समान, को अचरज कासों कहै।
हेरनहार हेरान, रहिमन अपने आपतें ॥

(५) हिन्दी-साहित्यका मध्यकाल

हिन्दीमें कबीर और दादूके समान कितने ही सन्तोंने कवितायें लिखी हैं। उनकी रचनाओंमें कलाका सौष्ठव न होने-

पर भी सत्यकी ज्योति है। कवितामें कला और शक्तिका विलक्षण सम्मिश्रण तुलसीदास और सूरदासकी रचनाओंमें हुआ है। ये दोनों हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इसी समय हिन्दीके प्रायः सभी कवियोंने राम और कृष्णका यशोगान करनेके लिए पद लिखे हैं। इनकी कवितामें प्रेम और भक्ति हीका वर्णन है। परन्तु यहाँ हमें एक बातका स्मरण रखना चाहिए। वह यह कि इन भक्त-कवियोंकी गणना श्रृङ्गार-रसके आचार्योंमें नही है। इसमें सन्देह नहीं कि मध्ययुगमें हिन्दी-साहित्यका उद्गम भक्तिवादमें हुआ। थोड़े ही समयमें उसका आधिपत्य-समग्र भारतवर्षपर हो गया। संवत् १४४४ से १६८० तक उसीसे हिन्दी-साहित्यकी अच्छी वृद्धि हुई। जिन कवियोंका उसे गर्व है उनका आविर्भाव इसी कालमें हुआ। कबीर, विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि ऐसे कवि हैं जिनकी रचनाओंका आदर सभी समय होता रहेगा। राधा-कृष्णके प्रेम-वर्णनसे गद्गद होकर इन्होंने पवित्र श्रृङ्गार-रसकी अवतारण की है। परन्तु इन्होंने अपनी कल्पनाको पवित्र, संयत और निर्मल रक्खा है। इनके बाद भी हिन्दी-साहित्यकी बराबर उन्नति होती गई। परन्तु कविताका लक्ष्य परिवर्तित हो गया। वह धर्मकी ओर न जाकर श्रृङ्गार-रसकी ओर जाने लगा। तब हिन्दीमें शुष्क श्रृङ्गार-रसके काव्योंकी वृद्धि होने लगी। श्रृङ्गार-रसके आचार्य थे केशवदास। उनकी रसिक-प्रिया रसिकोंका और कवि-प्रिया कवियोंका कण्ठहार हो गई। सेनापति,

मतिराम, बिहारी, देव, दास, पद्माकर आदि जितने कवि हुए सभी शृङ्गार-रसके आचार्य थे।

इस भावोन्मादको भक्तिवादने उत्तेजित अवश्य किया था। उसका कारण है। मनुष्य-मात्रका यह स्वभाव है कि जब उसकी क्रिया-शक्ति निर्बल हो जाती है तब उसकी भाव-शक्ति खूब प्रबल रहती है। बाल्य-कालमें क्रिया शक्ति क्षीण रहती है। इसीलिए उस समय बालकोंके हृदयमें भिन्न भिन्न कल्पनाओं और भावोंकी तरङ्गें उठा करती हैं। जब वृद्धावस्था आती है तब क्रिया-शक्ति फिर निर्बल हो जाती है। यही कारण है कि वृद्ध भावोंके इतने वशीभूत होते हैं। मुसलमानोंके राजत्व-कालमें हिन्दू राज-नैतिक स्वत्त्वोंसे हीन थे। उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी, पर पराधीनताने उनको उत्साह-शून्य और शक्ति-हीन बना दिया था। मुसलमानोंकी प्रभुता उत्तर भारत ही पर अक्षुण्ण थी। जहाँ उनकी प्रभुता अच्छी तरह नहीं स्थापित हुई थी वहाँ हिन्दू बिलकुल ही क्षीणपराक्रम नहीं हो गये थे। यही कारण है कि रामदासने भक्तिमें निष्काम कर्मका उपदेश देकर दक्षिण-भारतमें जो शक्ति उत्पन्न कर दी उससे उत्तर-भारतके हिन्दू-सर्वथा वञ्चित रहे। दासत्वकी शृङ्खलामें बद्ध होकर उत्तर-भारतके श्रीमान् सभी बातोंमें अपने सम्राटोंका अनुकरण करने लगे।

महाप्रभु वल्लभाचार्यका जन्म संवत् १५३५ में हुआ था। उनके उपदेशोंने हिन्दी-साहित्यमें अमृतवर्षाकी और वैष्णव-

साहित्यका उद्भव हुआ। वैष्णव-साहित्य और धर्मका विशेषत्व यह है कि वह मनुष्योंमें भगवान्के स्वरूपको उपलब्ध करना चाहता है। ईश्वरके विराट् और अचिन्त्य स्वरूपसे वह दूर रहता है। प्रेममें भय नहीं रहता। इसलिए वैष्णव कवियोंने पिता, माता, स्वामी, सखा आदि पारिवारिक स्नेहमें ही लीलामयका लीला-विकास देखा। जितने वैष्णव-कवि हुए वे सभी पार्थिव प्रलोभनोंसे दूर रहकर भगवद्भक्तिमें निरत रहते थे। सूरदास तुलसीदास, मीराबाई आदि कवियोंकी गणना वैष्णव-कवियोंमें की जाती है।

वैष्णव-साहित्य खूब लोक प्रिय हुआ क्योंकि वह सरस और सरल था। परन्तु हिन्दीमें वही एक साहित्य नहीं था। बौद्ध धर्मके पतनके बाद भारतमें जो नवीन संस्कृत-साहित्य प्रचलित हुआ था उसके आधारपर भी हिन्दीमें एक दूसरा साहित्य बन रहा था। उसकी ओर भी हम एक दृष्टि डालना चाहते हैं।

मुसलमानोंके आनेके पहले भी भारतवर्षमें धार्मिक विद्वेष था। बौद्ध और जैन-धर्मोंने हिन्दू-धर्मपर कुठाराघात किये। परन्तु अन्तमें हिन्दू-धर्मने बौद्ध-धर्मका उच्छेद कर डाला और जैन-धर्मकी प्रभुता लुप्त कर दी। बौद्धधर्मके प्रावल्य कालमें प्राकृत साहित्यका प्रचार बढ़ा था, पर हिन्दूधर्मके अभ्युदयसे नवीन संस्कृत साहित्यका आविर्भाव हुआ। हिन्दू-धर्मका यह संस्कृत-साहित्य खण्डन और मण्डनात्मक ग्रन्थोंसे ही पूर्ण

था। दर्शन, धर्म, व्याकरण और काव्योंकी शास्त्रीय विवेचनामें ही तत्कालीन हिन्दू-विद्वानोंने खूब परिश्रम किया। भगवान् शङ्कराचार्यके समयसे कबीरकी उत्पत्ति तक जितने ग्रन्थ बने हैं प्रायः सभी आलोचनात्मक हैं। उनमें तात्त्विक संश्लेषण और विश्लेषण ही हैं। श्रीहर्ष इसी कालके कवि हैं। उनका पाण्डित्य इतना प्रखर है कि सर्वसाधारण उनकी ओर ताकनेका साहस नहीं कर सकते। इस प्रकार यह साहित्य कुछ ही लोगोंमें सीमाबद्ध हो गया। इसी समय संस्कृतमें शृङ्गार-रसका तूफ़ान आ गया। कितने ही काव्य, नाटक, प्रहसन आदि रचे गये, उनमेंसे कुछ तो अश्लीलताकी सीमातक पहुँच गये। पर इस साहित्यका प्रचार सर्वसाधारणमें नहीं था। काव्य-कलाके निष्णात कवि और शास्त्रोंके मर्मज्ञ पण्डित सर्वसाधारणसे पृथक् होकर राज-सभाके आभूषण हो गये थे। राज-चिह्नोंमें उनकी गणना होने लगी थी। मुग़लकालमें जब विद्या-रसिक मुग़ल-बादशाहोंने विद्वानोंको राज-सभामें स्थान दिया तब छोटे छोटे अधिपति भी कवियोंका सम्मान करने लगे। इन कवियोने नवीन संस्कृत-साहित्यके अनुकरण-पर काव्य रचना की। कालिदासके बाद संस्कृत कवियोंमें शब्दोंका आडम्बर और अलङ्कारोंका प्रचार बढ़ने लगा था। साहित्य-कलाके मर्मज्ञोंने काव्यके लिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियम बनाये थे। इन राज-कवियोने उन्हीं नियमोंका अनुसरण किया। प्रायः सभीने अलङ्कार-शास्त्रपर एकाध ग्रन्थ लिखा है। इन

कवियोंने जो साहित्य निर्माण किया है वह वैष्णव साहित्यसे सर्वथा पृथक् है। पण्डितराज जगन्नाथ जिस कोटिके कवि हैं उसीमें केशव, विहारी, मतिराम और पद्माकरकी गणना होनी चाहिए। सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि जितने स्त्री-पुरुष भक्तोंमें आदरणीय माने गये हैं उन सबने सांसारिक वैभवका परित्यागकर ऐहिक वासनाओंके दमन करनेकी चेष्टा की है। यही उनका प्रधान लक्ष्य रहा है, परन्तु क्या यही बात विहारी, मतिराम आदि शृङ्गार रसके आचार्योंके विषयमें भी कही जा सकती है? क्या उन्होंने भक्तिके आवेगमें आकर सांसारिक वैभवकी कामना छोड़ी है? शृङ्गार रसके वर्णनमें तो उन्होंने अपनी कृष्ण-भक्तिकी पराकाष्ठा दिखलाई, परन्तु क्या उन्होंने अपने जीवनमें भी कभी भक्तिभाव प्रदर्शित किया है? उनके नख-शिख-वर्णनमें अध्यात्मवाद अथवा भक्तिवाद देखना अन्याय है।

कविवर विहारीलाल अथवा मतिराम राजसभाके रत्न थे। उनकी प्रतिभा उसीमें अवरुद्ध थी। उन्हें कोई विश्व-कवि नहीं कहेगा। उनकी कृति विद्वानोंकी शोभा हो सकती है, पर वह सर्वसाधारणकी सम्पत्ति नहीं है। वह विलासकी सामग्री है, पर पूजाका पात्र नहीं है। उससे मस्तिष्कमें उत्तेजना पैदा हो सकती है, पर हृदयमें शान्ति नहीं हो सकती। उनके भावोंमें तल्लीन होकर रसिक आत्मविस्मृत हो सकते हैं, पर उनमें जाग्रति नहीं आ सकती। अस्तु।

इतिहासज्ञोंका कथन है कि मुगलोंका शासनकाल हिन्दी-साहित्यके लिए स्वर्ण-युग है। इसमें सन्देह नहीं कि मुगल बादशाहोंने हिन्दी-साहित्यसे जो अनुराग प्रदर्शित किया उससे हिन्दी-साहित्यकी अच्छी वृद्धि हुई। कहनेकी ज़रूरत नहीं कि मुगल-सम्राटोंका अनुकरण कर अन्य श्रीमानोंने भी हिन्दीके कवियोंका अच्छा सत्कार किया। इस समय हिन्दीमें जितने बड़े बड़े कवि हुए प्रायः सभी किसी न किसी राजाके आश्रित थे। श्रीमानोंकी संरक्षकतामें हिन्दी-साहित्यकी वृद्धि तो हुई, परन्तु कवि जनताके प्रतिनिधि नहीं रह सके। राजसभाओंमें जो कवि सम्मानित हुए उन्होंने जनताके हृद्गत भावोंको व्यक्त करनेकी चेष्टा नहीं की। हिन्दू-समाजमें जीवनकी गति किधर है और उसको किस दिशाकी ओर परिवर्तित कर देनेसे समाजका कल्याण होगा, यह कवि-प्रिया अथवा रसिक-प्रियाके समान ग्रन्थोंका उद्देश नहीं था। ऐसी रचनायें किसी न किसी महाराजकी सेवाके उपलक्ष्यमें लिखी गई थीं, अतएव उनमें कदाचित् उन्हींके मनोविनोदकी ओर कवियोंका ध्यान था। अपना कला नैपुण्य प्रदर्शित करनेके लिए इन्होंने साहित्य-शास्त्रका तो मन्थन कर डाला, पर जीवनका रहस्य ढूँढ़नेके लिए मनुष्य-समाजकी पर्यालोचना नहीं की।

मुगलोंका प्रभुत्व क्षीण होनेपर लोग एक बार फिर भारतवर्षमें हिन्दू-साम्राज्यका स्वप्न देखने लगे। उत्तरमें सिक्खोंने और दक्षिणमें मरहठोंने स्वाधीनताके लिए युद्ध किया। कहा

जाता है कि मुग़लोंके पतनका सबसे बड़ा कारण यह है कि औरङ्गज़ेबने हिन्दू-धर्मके विनाशके लिए प्रयास किया। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुओंपर धार्मिक अत्याचार हुए, पर आश्चर्य-की बात यह है कि जिस प्रान्तपर सबसे अधिक अत्याचार हुआ उसने मुग़लोंके विरुद्ध वैसी उत्तेजना प्रदर्शित नहीं की जैसी सिक्खों अथवा मरहठोंने की। कुछ विद्वान् महाकवि भूषणको जातीय कवि समझते हैं। पर भूषणकी ओजस्विनी कविता उसी भाषामें लिखी गई थी जिसके अधिकांश बोलने-वाले अत्याचार सहकर भी अकर्मण्य बने रहे। मरहठोंके प्रति उनकी सहानुभूति अवश्य थी, पर वह सहानुभूति क्रिया हीन थी। चतुर मरहठोंने अपने राज्य-विस्तारके लिए उस सहानु-भूतिसे पूरा लाभ उठाया। उन्होंने हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों-पर अधिकार कर लिया। तो भी उन प्रान्तोंके अधिवासियोंमें जाग्रतिका कोई भी लक्षण नहीं दिखाई दिया। मुग़लोंका प्रभुत्व नष्ट हुआ और कुछ कालके लिए हिन्दू महाराष्ट्रका आधिपत्य स्थापित भी हुआ, तो भी देशकी अवस्थामें परिवर्तन नहीं हुआ। उसी प्रकार पञ्जाबमें हिन्दू-सिक्खोंका अधिकार हो जानेपर भी वहाँ हिन्दू-साहित्यकी कुछ भी श्री वृद्धि नहीं हुई। हम जानना चाहते हैं कि लोगोंमें यह भाव-शून्यता कैसे हुई? सच बात यह है कि मरहठे, सिक्ख अथवा राजपूत मुग़लोंके विरुद्ध अवश्य खड़े हुए, परन्तु देश उनके साथ नहीं था। मुग़लोंके विरुद्ध जो युद्ध हुआ वह स्वाधीनताके लिए जनताका युद्ध नहीं था। जनता

सर्वथा उदासीन थी। भूषणने औरङ्गज़ेबके विरुद्ध अपने जो भाव प्रकट किये हैं वे जनताके भाव नहीं हैं। भूषणने अपने जिन आश्रयदाताओंका यशोगान किया है उनपर देशकी अचल श्रद्धा नहीं थी। भूषण भले ही इस संशयमें पड़े रहें कि वे साहूकी प्रशंसा करें या छत्रसाल की, पर देश इन दोनोंके प्रति उदासीन था। यदि यह बात न होती, यदि सचमुच समग्र भारतवर्षमें स्वाधीनताके भाव जाग्रत हुए होते, तो देशमें वह शक्ति उत्पन्न हुई होती जो अदम्य होती। उस शक्तिके प्रभावसे तत्कालीन साहित्यका स्वरूप ही कुछ दूसरा हो जाता। उन भावोंकी पुष्टिके लिए सैकड़ों कवि उत्पन्न हुए होते। पर हम देखते हैं कि हिन्दीमें भूषणके समान दो ही एक कवि उधर आकृष्ट हुए और अन्य कवि शृङ्गार-रसमें ही निमग्न रहे।

यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तोंके अधिवासियोंमें शौर्यका अभाव है। सेनाओंमें इन लोगोंकी संख्या उपेक्षणीय नहीं है। समरभूमिमें ये लोग अच्छा पराक्रम दिखलाते थे। इन्हीं लोगोंकी सहायतासे ब्रिटिश-साम्राज्यतक स्थापित हुआ। फिर भी इसी जातिने स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिए कभी प्रबल चेष्टा नहीं की। इसका क्या कारण है? हमारी समझमें तो इसका कारण यही है कि इनके सामने स्वाधीनताके आदर्श कभी उपस्थित नहीं किये गये। तुलसीदास और सूरदासने उन्हें धर्मके श्रेष्ठ आदर्श दिखलाये, पर हिन्दीमें स्वाधीनताका आदर्श दिखलानेके लिए कोई भी तुलसी-

दास अथवा सूरदास उत्पन्न नहीं हुआ। राजसभाकी शोभा बढ़ानेवाले और राजाओंसे अपरिमित पुरस्कार पानेवाले कवि जनताके कवि नहीं हो सकते। इन कवियोंने धन और कीर्तिकी आशासे जिस साहित्यकी सृष्टि की है वह जातीयताके भावोंसे सर्वथा शून्य है। इनकी रचनाओंमें हम जिस वैभवका दर्शन करते हैं वह उनके आश्रय-दाताओंका वैभव है, जातिका वैभव नहीं।

भारतवर्षके इतिहासमें सबसे विलक्षण बात यह हुई है कि जब देशमें जातीयताके प्रचारके लिए किसीने मत-भेदोंको दूर करनेकी चेष्टा की तब वे तो दूर हुए नहीं,उलटा उनकी संख्यामें और एककी वृद्धि हो गई। गुरु नानकने मनुष्य-मात्रके कल्याणके लिए ज्ञानकी जो धारा प्रवाहित की थीं वह अन्तमें सिक्खोंके सम्प्रदायमें ही अवरुद्ध हो गई। कबीर, दादू, चैतन्य आदि जितने धर्म गुरुओंने प्रेमके आधारपर जातीयताकी सृष्टि करना चाहा उतने ही सम्प्रदायोंकी वृद्धि हुई। तुकाराम, नामदेव आदि दक्षिणके धर्म-प्रचारकोंने जिस महाराष्ट्र-जातिको धर्मके बन्धनसे दृढकर प्रबल बना दिया था वही जाति राजनैतिक स्पर्धासे स्वयं अपने पतनका कारण हुई। यही कारण है कि मध्ययुगके आरम्भमें भारतीय साहित्यमें जिन धार्मिक भावोंने एक नवीन शक्ति उत्पन्न कर दी थी वे बिलकुल शिथिल हो गये। इधर भाव-स्रोत अवरुद्ध हुआ उधर हिन्दीके सभा-कवियोंने कला-सौष्ठवके प्रदर्शनमें अपनी शक्ति लगा दी। शायद

ही किसी देशके साहित्यमें कवियोंने कलाके द्वारा अपने व्यक्तित्वको इतना छिपाया हो जितना हिन्दीके परवर्ती कवियोंने। कबीर, सूरदास, तुलसीदासके समान कवियोंकी रचनाओंमें उनके हृदयके भाव फूट पड़ते हैं। पर विहारी-सतसईके समान काव्योंमें हम कविका यथार्थ दर्शन करते ही नहीं। उन्हें हम जब देखते हैं तब एक कल्पित राज्यमें ही विहार करते पाते हैं। अपनी कल्पनाके सौन्दर्यमें वे ऐसे डूब गये हैं कि दूसरी ओर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। वर्षा-ऋतुमें मेघागम देखकर वे किसी कल्पित वियोगिनीके विरह-दुःखसे विकल हो गये हैं, पर देशके हाहाकारसे उनका चित्त विकृत नहीं हुआ। जब मुग़ल-साम्राज्यकी स्मशान-भूमिमें चितानल जल रहा था तब हिन्दीके कवि किसी कल्पित नायिकाको तरह तरहके उपदेश दे रहे थे। ये क्या सचमुच उनके हृदयके भाव थे ? हमारी समझमे यहाँ कविकी कला-मात्र है, उनका व्यक्तित्व नहीं। यही कारण है कि हमें उनकी कला प्राण-हीन मालूम होती है। यथार्थ कविका दर्शन हम तभी करते हैं जब अन्तर्वेदनासे पीड़ित हो वे पुकार उठते हैं—व्याध हू ते विहद असाधु हौं अजामिल लौं, ग्राह ते गुनाही कहो किनमें गिनाओगे। यहाँ कविको न तो राज सभाका ध्यान है और न अपनी कलाका। वह एक बार अपने अन्तर्जगत्‌की ओर दृष्टि डालकर संसारसे अपनेको ऊँचा उठा ले जाता है—वहाँ जहाँ स्वयं विश्वनाथ हैं।

कृत्रिमताके इस युगमें भारतीय समाजकी रक्षा तुलसीदासके

समान कवियोंने की। हिन्दी-साहित्यके लिए तो तुलसीदासको कृति ही स्वर्ग-सोपान है। कार्लाइलने ऐश्वर्य-मण्डित ब्रिटिश-साम्राज्यसे अधिक मूल्यवान् शेक्सपियरकी रचनाको समझा है। पर वैभव-हीन भारतके लिए तो तुलसीदासका रामचरितमानस ही सर्वस्व है। विज्ञ लोग रसार्णवमें डूबे रहें, परन्तु अज्ञोंने रामचरितमानसको ही अपनाया। हिन्दू-धर्मके आदर्शोंकी रक्षा तुलसीदासने की। भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंने अपने अपने साम्प्रदायिक साहित्यसे उपदेश ग्रहण किया, पर सम्प्रदाय विहीन शिक्षा तुलसीदासजी देते रहे।

ब्रिटिश-साम्राज्यके स्थापित होनेपर भारतवर्षमें सर्वत्र शान्ति स्थापित हुई। पर यह शान्ति अकर्मण्यताकी थी। क्रमशः यह अकर्मण्यता दूर हुई। पाश्चात्य सभ्यताके प्रभावसे भारतमें फिर चेतनता आई। पाश्चात्य विज्ञानके आलोकमें वे आत्म-परीक्षामें व्यस्त हुए। उन्हें अपनी स्थितिसे असन्तोष हुआ। असन्तोषका यह भाव अब प्रबल होने लगा है। इसने साहित्यमें भी प्रवेश किया और साहित्यके स्वरूपको ही बदल दिया। नवीन साहित्यकी सृष्टि होने लगी। जिन भारतीय प्रान्तोंमें इस साहित्यने उन्नति की है वहाँ हम कविताका एक नया ही आदर्श देखते हैं। वह आदर्श है मनुष्यत्वका विजय, स्वाधीनता और प्रेम।

हिन्दीके आधुनिक साहित्यका अभी शैशव काल है। अभी इसमें न तो कलाका चमत्कार है और न उच्च आदर्शका प्रदर्शन।

तो भी यह साहित्य देशके साथ है। हम उसमें वर्तमान भारत-का यथार्थ दृश्य देख रहे हैं। हताश होनेका कोई कारण नहीं है। जब अन्य भाषाओंमें सत्काव्योंकी सृष्टि हो रही है तब हिन्दीमें क्यों न होगी। हमें तो हिन्दीका भविष्य उज्ज्वल जान पड़ता है।

(६) हिन्दी-काव्य और कवि-कौशल

साहित्य मनुष्यके अन्तर्जगत्का रहस्यागार है। मनुष्योंके अन्तर्जगत्में विभिन्न भावोंका जो घात-प्रतिघात होता रहता है उसीसे साहित्यकी गति अग्रसर होती है। मनुष्योंका यह चिन्ता-स्रोत सदैव बहता रहता है, उसकी धारा कभी टूटती नहीं। एक धारा अनेक धाराओंमें विभक्त अवश्य हो जाती है, परन्तु उस मूलधारासे किसीका सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होता। कभी कभी अन्य धारायें भी उसमें आकर मिल जाती हैं। इससे उसका विस्तार अधिक हो जाता है और उसकी गतिमें क्षिप्रता भी आ जाती है, पर उसकी मूलधारा नष्ट नहीं होती। हिन्दी-काव्योंमें जो चिन्ता-स्रोत बह रहा है उसका उद्गम ढूँढ़नेके लिए हमें प्राचीन वैदिक-कालतक जाना पड़ेगा। हिन्दीका आदि कवि हम चाहे जिसे मान लें, परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वह कवि अपने पूर्वजोंद्वारा अर्जित साहित्य-सम्पत्तिका उत्तराधिकारी था। उसने अपनी सम्पत्तिका सदुप-योग अवश्य किया है, योग्य अधिकारी होनेके कारण उसने उस

सम्पत्तिकी वृद्धि भी की है, परन्तु हमें वृद्धि देखकर पूर्वार्जित सम्पत्तिको भूल नहीं जाना चाहिए। मतलब यह कि जब कोई कवि किसी युग-विशेषमें जन्म लेता है, तब वह उस युगसे अनेक बातें ग्रहण करता है। इससे उसकी कृतिमें एक ऐसी विशेषता आ जाती है जो उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियोंमें नहीं आ सकती। कविपर देश और कालका यही प्रभाव पड़ता है। मेकालेने मिल्टनके विषयमें लिखा है कि मिल्टन उस युगमें हुआ था जो कविताके लिए उपयुक्त नहीं था। परन्तु यथार्थ बात यह है कि किसी दूसरे युगमें मिल्टनके समान कवि उत्पन्न नहीं होते। सच तो यह है कि कवि अपने उपयुक्त युगमें ही जन्म लेता है। संसारके आदि कालमें वाल्मीकि, व्यास और होमरके समान कवि होते हैं। उस समय मिल्टन अथवा केशव-दासकी सम्भावना नहीं की जा सकती। इन कवियोंकी जो विशेषतायें हैं उनका विकास उसी देश और कालमें हो सकता है जिसमें वह हुआ है। देश और कालके अनुसार मानव-समाज-की परिस्थिति बदलती रहती है। यह सच है कि कविका हृदय दर्पणकी भाँति केवल बिम्बोद्ग्राही नहीं है। परन्तु देश और कालमें ही उसके व्यक्तित्वका विकास हो सकता है। कविकी कृतिमें देश और कालकी निर्जीव छाया नहीं रहती। उसमें उसकी आत्मा विद्यमान रहती है। इसीसे उसकी कृति अक्षय बनी रहती है। जिसकी रचनामें केवल युगकी छाया रहती है वह थोड़े ही समयमें नष्ट भी हो जाती है। हिन्दी-काव्योंकी

परीक्षामें हमने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितिपर विचार कर लिया। अब हम उनके कला-कौशलपर विचार करेंगे। उसमें हम कविका व्यक्तित्व देख लेंगे और यह जान लेंगे कि बाह्य परिस्थितियोंके द्वारा कविके व्यक्तित्वका विकास कब हुआ।

कविताके विषयमें सर्वसाधारणके विचार भ्रमपूर्ण होते हैं। एक विद्वानने लिखा है—

'साहित्यके लिए वह दिन बड़ा महत्त्व-पूर्ण होगा जब लोग यह समझने लगेंगे कि कलाकी अभिव्यक्तिके लिए जिन उपायोंका अवलम्बन किया जाता है वे स्वयं कला नहीं हैं। कला साध्य है और वे उपाय साधन-मात्र हैं। साधनको साध्य नहीं समझना चाहिए। चित्र-कला अथवा सङ्गीत-कलामें लोग साध्य-साधनके विषयमें इतनी भूल नहीं करते जितनी कवितामें। रङ्गसे चित्र अङ्कित किया जाता है, परन्तु कपड़ेपर सिर्फ़ रङ्ग भर देनेसे उसे कोई भी चित्र नहीं कहेगा। इसी प्रकार सङ्गीतकी अभिव्यक्तिके लिए ध्वनिकी आवश्यकता है, पर सिर्फ़ ध्वनिसे सङ्गीतकी सार्थकता कोई नहीं स्वीकार करेगा। रङ्ग तथा ध्वनि सिर्फ़ साधन हैं और साध्य है कला। परन्तु कवितामें साध्य-साधनकी विवेचना इतनी स्पष्ट नहीं है। भाषा, छन्द और अलङ्कार, ये कवित्व कलाके साधन हैं। तो भी यदि किसीकी छन्दोमयी रचनामें भाषाका सौष्ठव और अलङ्कारका चमत्कार विद्यमान है, तो लोग उसे कविता मान लेंगे। वे यही कहेंगे कि इसमें कवित्व-कलाके साधन हैं, अतएव यह कविता है। कभी

कभी तो अलङ्कार और भाषा-सौष्ठवसे हीन रचना भी छन्दोमयी होनेके कारण कविता मान ली जाती है। अधिकांश लोगोंकी यह धारणा इतनी प्रबल है कि सिर्फ़ पद्य-रचना ही कविता समझी जाती है।'

हिन्दीमें जो लोग गद्य-पद्यके झमेलेमें पड़े रहते हैं वे साध्य-की अपेक्षा साधन हीपर अधिक जोर देते हैं। खड़ी बोलीमें अच्छी पद्य-रचना नहीं होती अथवा नही हो सकती, इसका निर्णय करना अब हमारी समझमें आवश्यक नहीं है। अब आवश्यकता इस बातकी है कि सर्व साधारणके चित्तमें कविता-के विषयमें जो भ्रम है उसे दूर कर देना चाहिए। उन्हें यह समझा देना चाहिए कि कविता न तो छन्द हैं, न अलङ्कार है, न रस है। वह जीवनका पूर्ण रूप है, जिसमें ये सभी विद्यमान हैं। कुछ लोग असाधारणतामें कवित्व-कलाकी पराकाष्ठा देखते हैं। हिन्दी-साहित्यमें भी असाधारणताकी प्रधानता है। यदि सरल भाषामें मनुष्यकी सरल भावना व्यक्त कर दी जाय, तो लोग उसमें कवित्व-कलाकी छटा नहीं देख सकेंगे। यही कारण ह कि हिन्दीकी कविताओंमें—विशेष कर व्रजभाषाकी कवि-ताओंमें—प्रकृतिका यथार्थ चित्र हम कम देखते हैं। वर्षा होती है, नदी उमड उमड़कर बहती है, मेघ गरजते हैं, बिजली तड़-पती है, पर हिन्दीके कवियोंके लिए प्रकृतिका यह विलास किसी नायक नायिकाके मनोविनोदके लिए होता है। गोस्वामी तुल-सीदासजी प्रकृतिके एक एक दृश्यसे संसारकी निस्सारता सिद्ध

करते हैं। हम उनकी ओर विस्मय-विमुग्ध होकर अवश्य देखते हैं, पर प्रकृतिकी छटाकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। 'वर्षा विगत शरद ऋतु आई', पर हम गोस्वामीजीकी आध्यात्मिक भावनामें ही लीन रहे। उसके आगे प्रकृतिकी शोभा बिलकुल दब गई। अन्य कवियोंने प्राकृतिक सौन्दर्यको सांसारिक कामनाओंके नीचे दबा दिया है। इधर वर्षा हो रही है, उधर अश्रु-धारासे किसी कामिनीका कपोल भीग रहा है। चन्द्रोदय क्या हुआ, विरहाग्निकी ज्वाला भभक उठी। दक्षिणकी हवा बही और उसके साथ वियोगिनी आहें भरने लगी। हम यह नहीं कहते कि ये बातें होती ही नहीं। ये होती हैं, पर इनकी गणना असाधारण घटनाओंमें करनी चाहिए। जब कोई विरक्त संन्यासी चञ्चलताकी चमकमें संसारकी क्षणभङ्गुरता देखता है तब कितने ही छोटे छोटे लड़के वर्षामें हँसते-कूदते रहते हैं। कोई किसान भींगता हुआ अपनी गायोंको खदेड़ता हुआ घर लौटता है, कोई अपने घरमें बैठे बैठे वर्षाकी शोभा देखकर आनन्दित होता है। इन लोगोंकी भावनायें हिन्दीके कितने कवियोंने व्यक्त की हैं? मनुष्य सभ्यताके अन्तिम सोपानपर भले ही पहुँच जाय, पर वह उन भावनाओंको नहीं भूल सकता जिनसे उसका जीवन बना है। बच्चेको सुलाती हुई मातामें जो सौन्दर्य है वह किसी नायिकाके भावावेशमें नहीं है। नव-दम्पतीके लज्जा-शील नेत्रोंमें जो छवि है वह किसी नायिकाकी निर्लज्ज लीलामें नहीं है। दुःख और दारिद्र, प्रेम और सहानु-

भूतिके केन्द्र-स्थल हैं। जो भाव देश और कालका अतिक्रमण-कर समस्त मानव-जातिमें व्याप्त है वही कलाका प्रधान विषय है। संसारमें सुख है, तो दुःख भी है। कहीं प्रकाश है, तो कहीं अन्धकार भी है। अतएव कवितासे जनताका सम्बन्ध तभी स्थापित होगा जब लोग उसमें अपने हृदयकी समस्त भावनायें देख सकेंगे। कल्पनाका चश्मा लगाकर कवि सर्वत्र वैभवका विलास देख सकता है। परन्तु उसे मनुष्यका अन्तर्जगत् भी देखना चाहिए। उसे बालकोंकी सरलता, युवकोंकी उद्दाम वासना, वृद्धोंकी विरक्ति, पापियोंका अन्तस्ताप और हतभाग्यों की निराशाका अनुभव करना चाहिए। इनका यथार्थ चित्र खींचकर उसको जनताके हृदयमें उन्हीं भावोंका उद्रेक करना चाहिए। हिन्दीके अधिकाश पाठक कविताओंको कौतूहल-पूर्ण दृष्टिसे देख सकते हैं। वे समझते हैं कि कवितामें विल-क्षणता रहती है। उसका सौन्दर्य उनके लिए रहस्यपूर्ण रहता है। अतएव यदि उनके सामने सौन्दर्यका यथार्थ रूप रख दिया जाय तो वे उसमें सौन्दर्य देख ही नहीं सकते। कविताको वे अपने जीवनसे सर्वथा पृथक् समझने लगे हैं। इसलिए जब वे उसमें अपना जीवन देखते हैं तब या तो वे उसे कविता ही नहीं मानते या मानेंगे तो उसे रहस्य-पूर्ण समझने लगेंगे। आख्यायि-कायें और उपन्यास भी कविताके अन्तर्गत हैं। उनमें भी विल-क्षणता मानी जाती है। पर यह भ्रम है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि कलाका सौन्दर्य किसी रहस्यागारमें नहीं छिपा

हुआ है। वह सर्वत्र व्याप्त है। वह सभीको उपलभ्य है। वह साधारण है, असाधारण नहीं।

एक विद्वान्ने बड़े और छोटे कवियोंमें यह भेद बतलाया है कि प्रायः कलाका नैपुण्य छोटे कवियोंमें ही अधिक प्रदर्शित होता है। कलाकी दृष्टिसे जो रचना पूर्ण प्रतीत होती है उसकी महत्ताके विषयमें लोगोंको सन्देह होने लगता है। यह सच है कि कविता स्वयं एक कला है और भावकी अभिव्यक्तिके लिए सभी कलाओं-को एक एक निर्दिष्ट पथसे जाना पड़ता है। साहित्य शास्त्रके मर्मज्ञोंने कविताके लिए जो नियम निर्धारित किये हैं उनका एक-मात्र उद्देश यही है कि कवित्व-कलाका पूर्ण विकास हो। परन्तु जब कवि उन्हीं नियमोंके अनुधावनमें अपनी शक्ति लगा देता है तब हमें यही सन्देह होता है कि कहीं इस कविकी कला निष्प्राण तो नहीं है। बात यह है कि हम कवियोंसे यही आशा रखते हैं कि उनकी कलाका आधार मनुष्य संसार हो, उसमें मानव-जीवनकी यथार्थ समीक्षा की गई हो। टेनीसन और ब्राउनिङ्ग अंगरेज़ीके दो प्रसिद्ध कवि हैं। टेनीसनकी कृतिमें कलाका जो नैपुण्य है वह ब्राउनिङ्गकी रचनामें नहीं है, परन्तु उसके साथही ब्राउनिङ्गने मानव-जीवनकी जैसी समीक्षा की है वैसी समीक्षा हम टेनीसनकी कवितामें नह पाते। टेनीसन अपने जीवन-कालमें बड़े लोक-प्रिय रहे, परन्तु ब्राउनिङ्गकी लोक-प्रियता अब बढ़ रही है। कलाकी सार्थकता मानव-जीव-नकी सम्पूर्णताको व्यक्त करनेमें है। परन्तु कला जीवनसे

पृथक् हो गई है। फल यह हुआ है कि कलाके उत्कर्षसे कविताका उत्कर्ष नहीं माना जा सकता।

विहारीकी रचनामें जो कला-नैपुण्य है वह कदाचित् हिन्दीके दो ही एक कवियोंमें होगा। थोड़े ही शब्दोंमें अपने भावको उन्होंने ऐसी अच्छी रीतिसे व्यक्त किया है कि वर्णित विषयका चित्रसा खिच जाता है। जो बात लोग लम्बे छन्दोंमें नहीं कह सके उसको उन्होंने एक छोटेसे दोहेमें कह दिया। यह बात सभी स्वीकार करेंगे। परन्तु क्या उन्होंने मानव-जीवनकी सूक्ष्म आलोचनाकी है? घडी भरके लिए हम विहारीके रस-चमत्कार और कला-कौशलपर ध्यान न देकर उनके वर्णित विषयपर विचार करेंगे। पाठकगण पहले एक समृद्धिशाली नगरकी कल्पना कर लें, जहां बडी बड़ी इमारतें हैं। उनके साथ एक उद्यान भी अवश्य होना चाहिए। घरका भीतरी भाग खूब सजा हुआ है। कमरोंमें भाड-फानूस लगे हैं। कपूर, चन्दन और गुलाब जलका छिडकाव होता है। यही विहारीके नायक और नायिकाओंका निवास-स्थान है। विहारीकी नायिकायें ऐसा बारीक कपड़ा पहनती हैं कि उनके भीतर भिल-मिलीकी अपार ज्योति झलकती है, मानो समुद्रमें पत्तों सहित कल्पवृक्षकी शाखा शोभा दे रही है। भालपर बिन्दी लगाये, मुँहमें पान खाये, सिरके बालोंमें फुलेल और आँखोंमें काजल लगाये ये सोनजुहीकी वाटिकामें घूमती रहती हैं। ये इतनी सुकुमार हैं कि पैर धोते समय ये फफोले पड जानेके डरसे

अपना हाथ तलुवोंमें नहीं छुआ सकती। गुलाबके झाँवासे पैरका तलुआ रगड़ा जाता है। ऐसी नायिकाओंके साथ नायक बैठकर मदिरा पिया करते हैं। इन नायकोंमें कोई तो पतङ्ग उड़ानेके बड़े शौक़ीन हैं और कोई कबूतरबाज हैं। कर्तव्य ज्ञानसे सभी विमुख हैं। इन्हीं लोगोंकी चरित्र-चर्चा विहारीके दोहोंमें की गई है। जहाँ शृङ्गार-रसका आधिक्य वर्णित हुआ है वहाँ स्वयं वृन्दावन विहारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आ गये हैं। कबूतरबाजोंके साथ श्रीकृष्णचन्द्रजीकी मूर्ति देखकर हम तत्कालीन धार्मिक अवस्थाका अनुमान कर सकते हैं।

कुछ विद्वानोंने ऐसी ही रचनाओंमें भक्तिवादकी पराकाष्ठा देखी है। धर्म-साधनाकी गति दो ओर है, शक्तिकी ओर और रसकी ओर। शक्तिकी ओर साधनाकी गति होनेसे मनुष्यके हृदयमें एक दृढ़ विश्वासबल उत्पन्न होता है, जिससे वह अपनेको किसी अवस्थामें निराश्रय नहीं समझता। जब धर्मके चरम लक्ष्यका मिलन ईश्वरसे हो जाता है तब साधनाकी गति रसकी ओर हो जाती है। हृदयके रस-पूर्ण होनेसे यह मिलन सम्भव है। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि भक्तिरस अथवा प्रेम-रसमें जो भाव सम्भोगकी ओर है उसकी ओर चित्तको प्रेरित करनेसे दुर्बलता और विकार उत्पन्न होते हैं। मनुष्यत्व दुर्मतिको प्राप्त हो जाता है। प्रेमका लक्षण भोग नहीं, त्याग है। प्रेमका यथार्थ लक्षण यह है कि वह दुखको स्वीकार कर लेता है। दुख और त्यागमें ही प्रेमकी सार्थकता है। उसका यथार्थ परिचय

सेवा और कर्ममें मिलता है, भावावेशमें नहीं। जब तपस्या-द्वारा प्रेमका परिपाक होता है तभी उसका रूप विशुद्ध होता है। हिन्दीमें ऐसे भक्त कवियोंका अभाव नहीं है जिन्होंने प्रेमका विशुद्ध रूप वर्णित किया है। पर अधिकांश कवियोंमें विहारीके समान शक्तिकी अपेक्षा कलाकी ही प्रधानता है।

कविके भाव और भाषापर उसके व्यक्तित्वकी छाप रहती है। कुछ उदाहरण लीजिए। विशेष विशेष छन्दोंपर भी उसका अधिकार हो जाता है।

चन्द---हंस होत गति भंग मोर कटु सवद उचारै।
रोवत क्रौंच कुरंग सुरनि छंडत आहारै॥
सूआ वमत करत निकुल कुर्कुट मित्राई।
ऐसे चरित करंत जानि आमग दिनाई॥
चकोर परस्पर हित रहित कहत चन्द पारष्य महि।
तिहि काज आनि रष्षत इतहि भूपति भोजन साक कहि॥

तुलसी दास---पुनि बन्दौं खल गन सति भाये।
जे बिनु काज दाहिने बायें॥
पर हित हानि लाभ जिन केरे।
उजरे हरष विषाद बसेरे॥
प्रनवहुँ खल जस सेस सरोसा।
सहस वदन वरनइँ पर दोसा॥
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना।
पर अघ सुनैं सहस दस काना॥

रहीम—अब रहीम मुसकिल पड़ी गाढ़े दोऊ काम।
सांचे से तौ जग नहीं झूठ मिलै न राम॥

बिहारीलाल—नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत आये वनमालीन॥

मतिराम—कोऊ नहीं वरजे मतिराम रहौ तितहीं जितहीं मन भायो
काहेको सौंहैं हजार करो तुमतौ कबहूँ अपराध न ठायो
सोवन दीजे, न दीजे हमैं दुख, योंहीं कहा रसवाद बढायो
मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय सो मानै मनायो।

कवि स्वयं एक मनुष्य है, अन्य मनुष्योंकी तरह वह भी अपने युगकी सन्तान है। परन्तु अन्य लोगोंसे जो उसे पृथक् करती है वह है उसकी आत्मानुभूति। वह अनुभूति उसकी कृतिको एक विशेष रूप देती है। यही उसकी भाषामें भी एक विलक्षणता ला देती है। भाषाके द्वारा मनुष्य अपने हृद्गत भावोंको प्रकट करता है। भाषा मनुष्यके अन्तर्जगत्का बाह्य रूप है। वही निराकार भावोंको आकार प्रदान करती है। कविता कविकी भाषा है। अपनी आत्मानुभूतिको व्यक्त करनेके लिए वह उसी भाषाका आश्रय लेगा जो उसके अन्तःकरणकी भाषा होगी। तुलसीदास और मतिरामकी भाषाओंमें जो भेद है वह केवल देश और कालका भेद नहीं है, किन्तु अनुभूतिका भी भेद है। कविकी अनुभूतिसे पृथक् कर देने पर भाषा निर्जीव हो जायगी। यही बात छन्द, अलङ्कार और रसके विषयमें भी कही जा सकती है। कवित्व-कलाके यही अङ्ग माने गये हैं।

परन्तु इन सबपर कविकी आत्मानुभूतिका बड़ा प्रभाव पड़ता है। रहीमके दोहे बिहारीके दोहे नहीं हो सकते और न केशवदासकी रसिक-प्रिया पद्माकरके जगद्विनोदकी समता कर सकती है। अब हम इसी दृष्टिसे हिन्दीके कवियोंकी कवित्व-कलाकी परीक्षा करना चाहते हैं।

कहा जाता है कि कलाका राज्य सौन्दर्य है। परन्तु यह है क्या वस्तु? क्या यह भीतर है या बाहर, वस्तुगत है या मनकी अवस्था-मात्र है। हम कहा करते हैं कि गुलाब सुन्दर है, चन्द्रज्योत्स्ना सुन्दर है, कामिनी सुन्दर है। तब हम सौन्दर्य-को बाह्य वस्तुमें ही आरोपित करते हैं। परन्तु यदि सौन्दर्य बाह्य वस्तुका गुण है, तो एक ही वस्तुके सम्बन्धमें भिन्न भिन्न मनुष्योंकी भिन्न भिन्न धारणायें क्यों होतीं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि विभिन्न अवस्थाओंमें मनुष्योंकी सौन्दर्यवृत्तिमें भी भिन्नता आ जाती है। तुलसीदासजीका सौन्दर्य वर्णन देखिए। हिन्दीके सभी कवियोंको स्त्रियोंका सौन्दर्य-वर्णन अत्यन्त प्रिय है। वे नखसे शिखतक स्त्रियोंके रूप-वर्णनमें अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। अतएव पहले तुलसीदासजीके स्त्री-रूपके ही वर्णनपर ध्यान दिया जाय। तुलसीदासजीने सीताका सौन्दर्य-वर्णन इस प्रकार किया है—

गिरा मुखर तनु अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
विष वारुणी बन्धु प्रिय जेही।
कहिय रमा सम किमि बैदेही॥

जौं छबि सुधा पयोनिधि होई।
परमरूप मय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मन्दरु सिंगारू।
मथइ पानि पङ्कज निज मारू॥
एहि विधि उपजइ लच्छि जब, सुन्दरता-सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय सम तूल॥

तुलसीदासजीके इस वर्णनसे हमारे हृदयमें कौनसा चित्र उदित होता है? क्या हम भगवती सीताके नारी-रूपको देख सकते हैं? क्या यह रूप इन्द्रिय-ग्राह्य है? तुलसीदासजीने सौन्दर्यकी उस मूर्तिका दर्शन कराया है जो उनके लिए अनुभव-गम्य थी। यह रूप उनकी कल्पनाका फल नहीं था, किन्तु उनकी साधनाका फल था। जिसकी जैसी अनुभूति होगी वह वैसे ही रूपकी कल्पना करेगा। परन्तु यह रूप कल्पनाके भी अतीत है। अब हिन्दीके एक दूसरे कविका सौन्दर्य-वर्णन देखिए।

आरस सों आरत सम्हारत न सीस पट
गजब गुजारति गरीबन के धार पर।
कहै पदुमाकर सुगन्ध सरसावै शुचि
बिथुरि बिराजै बार हीरन के हार पर।
छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर
भोर उठि आई केलि-मन्दिर दुआर पर।
एक पग भीतर औ एक देहरी पै धरे
एक कर कज एक कर है किंवार पर॥

मिश्र-बन्धुओंने इसकी प्रशंसामें लिखा है कि कविने इसमें

चित्र खींच दिया है। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है। अब इन दोनों चित्रोंमें भेद क्या है? एक चित्र तो कल्पनाके लिए भी अनधिगम्य है और दूसरा इन्द्रियग्राह्य है। इस भेदका कारण है कवियोंकी अनुभूतियोंकी भिन्नता। अब इनके साथ सूरदास-जीके रूप वर्णनकी तुलना कीजिए।

वृषभानुनन्दिनी अति छबि बनी।
श्रीबृन्दावन चन्द राधा निर्मल चाँदनी॥
श्याम अलक बिच मोता द्युति मगा।
मानहुँ झलमलित शीश गगा॥
श्रवण ताटंक सोहैं चिकुर की काति।
उलटि चल्यो है राहुचक्र की भांति॥
गोरे लिलाट सोहे सेंदुर को बिंद।
शशि की उपमा देत कवि को है निंद॥
चपल उनींदे नैनै लागत सोहाये।
नासिका चंपकली को है अलि धाये॥

सूरदासजीके प्रायः सभी वर्णनोंमें हम यही बात पाते हैं। वे एक रूप खड़ा करते हैं और उसे उपमाओंसे गुम्फित कर डालते हैं। रूपकी वह झलक नेत्रोंके सामने आती है और फिर लुप्त हो जाती है। सूरदासजीकी इस रूप-कल्पनाको हम वर्ड-स्वर्थके शब्दोंमें Phantom of delight कहेंगे। यह उस अवस्थाका द्योतक है जब वस्तु-जगत्से आध्यात्मिक जीवनका सम्बन्ध स्थापित होता है।

केशवदासजीका रूप-वर्णन इन तीनों कवियोंसे भिन्न है उन्होंने न तो पद्माकरकी तरह कोई चित्र अङ्कित किया है और न सौन्दर्यकी किसी आनन्दमयी मूर्त्तिकी कल्पना की है। उन्होंने केवल शब्द-कौशलके द्वारा एक ऐसे रूपका वर्णन किया है जिससे कौतूहल होता है, आनन्द नहीं। उससे कविकी कलाका चमत्कार प्रकट होता है, पर रूप छिप जाता है।

वासों मृगअंग कहैं तोसों मृगनयनी सब
वह सुधाधर तुहूँ सुधाधर मानिए।
वह द्विजराज तेरे द्विजराजि राजैं वह
कलानिधि तुहूँ कलाकलित वखानिए।
रत्नाकर के हैं दोऊ केशव प्रकाशकर
अंबर विलास कुवलय हित मानिए।
वाके अति शीतकर तुहूँ सीता शीतकर
चन्द्रमा सी चन्द्रमुखी सब जग जानिए।

इन वर्णनोंमें सौन्दर्यका आधार एक ही है, परन्तु उनसे एक ही भाव उदित नहीं होता। कवियोंने अपने अपने संस्कारों-के अनुसार उसके भिन्न भिन्न रूपोंकी कल्पना की है।

बाह्य जगत्के साथ मनुष्य अपना जो सम्बन्ध स्थापित करता है वही उसका धर्म हो जाता है। धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं जो बाहरसे आरोपित की जाती हो। जबतक धर्मका सम्बन्ध जीवनसे घना रहता है तबतक उसका विकास होता रहता है, परन्तु जब धर्म जीवनपर आरोपित किया जाता है

तब उसमें स्थिरता आ जाती है। तब धर्म जीवनका अनुसरण नहीं करता, किन्तु जीवन धर्मका अनुसरण करता है। धर्मका एक सांचा तैयार हो जाता है, जिसमें मनुष्यका जीवन ढाला जाता है। तब जीवनमें कृत्रिमता आ जाती है। कृत्रिमताके इस युगमें जो साहित्य निर्मित होता है उसमें भी यही बात दिखाई देती है। सौन्दर्यके जिस अनन्त रूपकी अभिव्यक्तिके लिए काव्योंकी सृष्टि होती है वह अत्यन्त क्षुद्र हो जाता है। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियोंमें भारतवर्षमें भागवत-धर्मकी उन्नति हो रही थी। यह धर्म भारतीय जीवनकी स्वाभाविकताका फल था। भारतीय समाजमें कृत्रिमताका जो बन्धन फैला हुआ था उसीके विरुद्ध वैष्णव गुरुओंने आन्दोलन किया था। हिन्दी-साहित्यके आदि कालमें कबीरका जन्म क्या हुआ, हिन्दीका सौभाग्य-सूर्य उदित हुआ। कबीरने तत्कालीन समाजका अनुशासन तोड़ा और उसीके साथ साहित्यकी कृत्रिम मर्यादा भी भङ्ग की। कबीरके पहले जिस प्रकार समाजकी रक्षाके लिए धर्मकी मर्यादा निश्चित की गई थी उसी प्रकार साहित्यकी रक्षाके लिए कलाकी भी सीमा निश्चित की गई थी। इन दोनोंमें मनुष्यत्वकी उपेक्षा की गई थी। वैष्णव-धर्म और वैष्णव-साहित्यने समाजमें स्वाभाविकता ला दी। पर अन्तमें इन दोनो के ही सांचे तैयार हो गये। भक्तोंकी तन्मयताका परिणाम हुआ शृङ्गार रसका आधिक्य और उसीकी रक्षाके लिए हिन्दी-साहित्यके आचार्योंने नये अनुशासन निर्मित किये। सभी

कवियोंने उनका अनुसरण किया। इन्होंने अनेक नायक-नायिकाओंकी सृष्टि की और उन्हींकी बीभत्स लीलाओंमें हमें भक्तिका अन्तिम स्वरूप देखना पड़ा। परन्तु इस समयके कवियोंने भाषामें कलाका वह चमत्कार दिखलाया है कि भाषा ही स्वयं सौन्दर्यकी मूर्ति हो गई। सङ्गीतके अर्थहीन सप्तस्वरोंके समान इनकी शब्द-योजना केवल ध्वनि-मात्रसे अपना अर्थ प्रकट करती है। व्रजभाषाकी कविताओंमें अनुप्रासकी जैसी छटा है वैसी कदाचित् अन्यत्र नहीं। प्रत्येक अर्थ-हीन शब्द सार्थक हो गया है, उसमें सजीवता आ गई है। कवियोंकी यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई कि जीवन और कलामें पुन एक वार पार्थक्य हो गया। वे जगत्से दूर रहकर एक कल्पित राज्यमें विहार करने लगे। संसारमें चाहे वर्षा हो अथवा ग्रीष्म, उनके लिए सदैव वसन्त बना रहता था। इसीसे उनकी रचनाओंमें प्रकृतिका यथार्थ चित्र हमें देखनेको नहीं मिलता। हिन्दीके किसी विद्वान्ने इसका कारण यह बतलाया था कि मनुष्यकी श्रेष्ठतापर हमारे धर्मशास्त्रोंने इतना ज़ोर दिया है कि उसके सामने प्रकृति दब सी जाती है, अतः प्रकृतिके द्वारा नायक-नायिकाके गुणोंको उत्कृष्ट कर दिखाना तथा प्रकृति-वत् उनके मानसिक भावोंका तारतम्य दिखलाना उन्हें इष्ट था। यह बिलकुल सच है। परन्तु हमारी ऐसी धार्मिक प्रवृत्ति तभी होती है जब हम प्रकृतिके संसर्गसे दूर हट जाते हैं और उसके साथ हमारी सहानुभूति नहीं रहती। बाह्य सौन्दर्यके साथ अन्तःसौन्दर्यका निगूढ़ सम्बन्ध है। जब मनुष्यका

प्रकृतिसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है तब प्रकृतिके एक एक स्वरसे उसकी हृत्तन्त्री बज उठती है। इधर सूर्योदयसे कमल खिल उठा और उधर मनुष्यका हृत्सरोज विकसित हुआ। पवनके स्पर्शसे लतायें लहलहा उठीं और मनुष्य भी प्रफुल्लित हुआ। पशुओं और पक्षियोंके भी आनन्दोत्सवमें वह सम्मिलित होता है। परन्तु जब प्रकृतिके साथ उसकी यह घनिष्ठता नहीं रहती तब वह उसके यथार्थ सौन्दर्यका अनुभव नहीं कर सकता। हिन्दीके कवियोंके वर्णनमें मनुष्य-संसार रहता है, प्रकृति नहीं रहती। वर्षा होती है, मेघ गरजते हैं, बिजली चमकती है, पर प्रकृतिका यह विलास किसी नायक-नायिकाकी प्रेम-लीलाके आगे दब जाता है।

दामिनी दमक सुरचापकी चमक स्याम
घटाकी धमक अति घोर घनघोर ते।
कोकिला कलापी कल कूजत हैं जित तित
सीतल है हीतल समीर झकझोर ते।
सेनापति आवन कह्यो है मनभावन
लग्यो है तरसावन विरह जुर जोर ते।
आयो सखि सावन विरह-सरसावन
सु लाग्यो बरसावन सलिल चहुँ ओर ते।

इस सम्बन्धमें हिन्दीके पूर्ववर्ती कवियोंकी वर्णन-शैलीमें भिन्नता है। इस भिन्नताका कारण हमें यह प्रतीत होता है कि हिन्दीके पूर्ववर्ती कवियोंमें प्रायः सभी भक्त थे, संसारसे

उनका सम्बन्ध छूट गया था। वे जिस रूप-सागरमें निमग्न थे उसमें जड़ और चेतनका भेद नहीं था। सभीसे उनकी सहानुभूति थी, क्योंकि सभीमें वे उसी रूप-राशिका दर्शन करते थे। उन्होंने प्रकृतिके विलासमें या तो नूतन सत्योंका अनुभव किया अथवा उसमें ईश्वरकी विभूतिका दर्शन किया, परन्तु परवर्ती कवियोंने सिर्फ़ अपने मनके विकार प्रकट किये हैं। पर्णकुटियोंसे प्रकृतिकी जो शोभा देखी जाती है वही क्या विलास-भवनोंकी अट्टालिकाओंसे दृग्गोचर होती है?

हम कह आये हैं कि कलाका राज्य सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य किसी एक स्थानमें एकत्र नहीं है। कवि सर्वत्र उसका अनुभव करता है, बाह्य जगत्में और अन्तर्जगत्में। उसकी यह अनुभूति भिन्न भिन्न रसोंमें व्यक्त होती है। बाह्य जगत्में कभी वह प्रकृतिका विराट् रूप देख कर विस्मय-विमुग्ध हो जाता है और कभी उसकी संहारिणी शक्तिका अनुभव कर उसपर आतङ्क छा जाता है। कभी वह उसकी मधुरिमामें निमग्न होकर प्रेमका रसास्वादन करता है और कभी उसकी अस्थिरताका अनुभव कर वह सहानुभूति प्रकट करता है। मनुष्यके अन्तर्जगत्में भी वह सौन्दर्यकी भिन्न भिन्न अवस्थायें देखता है। मनुष्य केवल शरीर नहीं है और न मन ही है। आत्माकी अभिव्यक्तिमें ही उसकी सत्ताकी चरम सीमा है। पर शारीरिक और मानसिक अवस्थाओंके द्वारा ही उसके यथार्थरूपका विकास होता है। जिन अवस्थाओंको अतिक्रमण करनेसे आत्मिक

विकास होता है वे सभी कलाके उपकरण हैं। दैनिक जीवनमें मनुष्यका प्रतिक्षण जो उत्थान-पतन होता रहता है वह कलाके लिए उपेक्षणीय नहीं है। आशा-निराशा, सुख दुःख, संयोग-वियोग आदि भावोंके उत्थान-पतनसे कभी शृङ्गार-रस, कभी करुण-रस और कभी शान्ति रसका प्रादुर्भाव होता है। आत्मा की शक्ति जब शरीर और मनके द्वारा प्रकट होती है तब वीर और रौद्र-रसोंकी सृष्टि होती है। जब शरीर और मनको अति-क्रमण कर आत्मशक्तिका स्वरूप लक्षित होता है तब शान्ति-रसकी धारा बहने लगती है। मनुष्योंके हृदयमें जितनी दुर्बलता है उसकी असङ्गति दिखानेसे हास्यका उद्रेक होता है। उसपर आक्रोश करनेसे व्यङ्ग्यकी सृष्टि होती है और उससे सहानु-भूति करनेपर मृदु परिहास होता है। इसी प्रकार साहित्यमें शृङ्गार, करुण, हास्य, रौद्र आदि रसोंकी अवतारणा होती है।

हिन्दीके कवियोंने अपनी रचनाओंमें भिन्न भिन्न रसोंकी धारा बहाई है, पर अधिकांश कवितायें शृङ्गार-रससे पूर्ण हैं। इसमें उन्होंने सफलता भी अच्छी पाई है। पर वीर-रसके काव्योंमें शक्तिकी अपेक्षा शब्द-कौशल ही अधिक है। इसका कारण हमे यह प्रतीत होता है कि हिन्दी-साहित्यका विकास उस युगमें हुआ है जब हिन्दू-जाति क्रिया-शक्तिसे हीन हो गई थी। ऐसी अवस्थामें यदि हिन्दू-जाति भावुकतामें तल्लीन हो जाय तो आश्चर्य क्या है? फिर हिन्दू-जातिने सर्वदा पार्थिव शक्तियोंकी उपेक्षा ही की है।

हिन्दीके रस-निरूपणपर कुछ कहना हमारे लिए धृष्टता है। रस साहित्यके नामसे कितने ग्रन्थ विद्यमान हैं। उनमें रसोंकी—विशेषकर शृङ्गार-रसकी—सूक्ष्म व्याख्या है। इस रस-निरूपण-का फल यह हुआ है कि हिन्दीके परवर्ती कवियोंने कवित्व-कलाको नाप-जोखकर उसे एक स्थिररूप दे दिया है। सभीके वर्णनोंमें समता है। विषय-वैचित्र्यका अभावसा है। साहित्य-शास्त्रके विद्वानोंने काव्योंके गुणों और दोषोंकी परीक्षाकर उन नियमोंका प्रचार किया जिनका अनुसरण करनेसे कोई भी काव्य सत्काव्य हो सकता है। परन्तु फल विपरीत हुआ। ज्यों ज्यों इन साहित्य-शास्त्रोंका प्रचार बढ़ता गया, त्यों त्यों कविताका स्रोत-सूखता गया। अन्तमें कविताकी आत्मा तो लुप्त हो गई और लोग उसके मृत शरीरको लेकर झगड़ा करने लगे। आजकल भी हिन्दी-साहित्यमें ऐसे विवाद उठा करते हैं। अस्तु।

प्राचीन-साहित्यमें पद्यात्मक रचनाओंका प्राधान्य है और उनमें अनुप्रासोंका अभी हालमें अन्त्यानुप्रास-हीन कविता लिखनेकी चेष्टा की गई है, पर अधिकांश कवि अनुप्रासका आश्रय नहीं छोड़ना चाहते। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे पद्योंके स्वाभाविक अनुराग है। सङ्गीतमें, पहेलीमें, लोरियोंमें बच्चोंके खेलमें; कहाँतक कहें साधारण बातचीत तकमें मनुष्योंका यह पद्यानुराग प्रकट होता है। पद्यमें अथवा यह कहिए कि काव्यमें, रस आत्मा है और छन्द शरीर है। उसकी शोभा-वृद्धिके लिए

अलङ्कारोंकी योजना की जाती है। अब हम हिन्दी-कवियोंके अलङ्कार-सौष्ठवपर विचार करना चाहते हैं।

अलङ्कार दो प्रकारके माने गये हैं, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार। शब्दालङ्कारोंमें अनुप्रास मुख्य है और अर्थालङ्कारोंमें उपमा। भावको स्फुट रूप देनेके लिए कवि उपमाका प्रयोग करते हैं। कहा जाता है कि कवितामें भाव प्रधान है, भाषा नहीं। परन्तु भाषाका यथार्थ सौन्दर्य्य उपमा-द्वारा स्पष्ट होता है, केवल सुन्दर शब्दोंकी योजनामें ही भाषाका सौष्ठव नहीं है। उपमाके द्वारा भाव स्पष्ट होता है और भाषाका सौन्दर्य्य भी बढ़ता है। अनुप्रास सिर्फ़ भाषा-सौन्दर्य्यके लिए परियुक्त होता है, इसीलिए उसकी गणना शब्दालङ्कारोंमें की जाती है। तो भी अनुप्रासले कविताके मूलगत भाव ध्वनि-द्वारा अवश्य स्पष्ट होते हैं। कुछ लोग अनुप्रासको सिर्फ़ शब्दाडम्बर समझते हैं। यह उनकी भूल है। यह सच है कि कितने ही कवियोंने केवल शब्दाडम्बरके लिए ही अनुप्रासका प्रयोग किया है। परन्तु अनुप्रासकी सार्थकता इसीमें नहीं है। जैसे रूपके सादृश्यसे उपमा की सृष्टि होती है, वैसे ही शब्दोंके सादृश्यसे अनुप्रासकी रचना होती है। शब्दोंमें एक प्रकारका पारस्परिक आकर्षण रहता है। पत्ते पत्ते मिलकर मर्मर-ध्वनि उत्पन्न करते हैं। तरङ्गोंके पारस्परिक आघातसे कलकल-नाद उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शब्दोंके मिलनेसे काव्यमें एक अपूर्व सङ्गीत-ध्वनि उत्पन्न होती है।

अनुप्रासका एक उदाहरण लीजिए—दामिनी दमक सुर चापकी चमक श्याम घटाकी घमक अति घोर घन घोर तें। अनुप्रास-की इस छटामें वर्षाकी लीलाका सादृश्य अवश्य है। एक विद्वान् का कथन है The sound must echo to the sense अर्थात् कविताके लिए यह भी आवश्यक है कि शब्दोंकी ध्वनि-मात्रसे कविताका मूलगत अर्थ स्पष्ट हो जाय। कहनेका मतलब यह कि चाहे अनुप्रासका प्रयोग किया जाय अथवा उपमाका, इन अलङ्कारोंकी सार्थकता तभी है जब वे भावका अनुसरण करते हैं। भावोंके अनुसरण न करनेसे उपमाकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। स्वाभाविक उपमा वही है जिसके प्रयोग-मात्रसे भाव झलक जाय। उपमेयके साथ उपमानका सादृश्य ढूँढ़नेमें किसी-प्रकारका प्रयास न करना पड़े। तभी उपमाका प्रयोग उचित है। परन्तु कष्ट-कल्पित और असङ्गत उपमाओंसे कविताका भाव ही सिर्फ़ अस्पष्ट नहीं होता, किन्तु उसका सौन्दर्य्य भी नष्ट हो जाता है। हिन्दीमें कष्ट-कल्पित उपमाओं और अनुप्रासोंका बाहुल्य है। जब साहित्यमें भावोंकी अपेक्षा कर रचना-शैलीपर ध्यान दिया जाता है तब यही हाल होता है। जहाँ रसका अभाव है वहाँ कवि अपने रचना-चातुर्य्यके द्वारा आन्तरिक शुष्कताको छिपानेकी चेष्टा करते ही हैं। तभी पाठकोंको मुग्ध करनेके लिए विचित्र उपमाओं और अनुप्रासों-का आश्रय ग्रहण किया जाता है।

सभी देशोंके साहित्यमें कभी ऐसा समय आता है जब

कवितामें स्वाभाविकताके स्थानमें कृत्रिमताका ही प्राधान्य रहता है। ऐसा समय आनेपर कविता आह्लादकारिणी न होकर उन्मादकारिणी हो जाती है। साहित्य-क्षेत्रसे कृत्रिमता दूर करनेकी चेष्टामें कुछ लोग उपमा और अनुप्रासको त्याज्य समझते हैं। हिन्दीमें जबतक व्रज-भाषाका प्राधान्य था तबतक अलङ्कारोंकी उपेक्षा नहीं की जाती थी। खड़ी बोलीकी कविताओंमें अब अलङ्कारोंकी शोभा नहीं। अधिकाश कवितायें, जो भावपूर्ण कही जाती हैं, शब्दालङ्कारोंसे विहीन हैं। यह हाल सिर्फ़ हिन्दीका ही नहीं, अन्य भाषाओंका भी है। अन्य देशोंके आधुनिक कवि भी काव्यको निराभरण रखना आवश्यक समझते हैं। उनकी राय है कि अलङ्कारके अन्तरालमें भावका सौन्दर्य्य लुप्त हो जाता है। अतएव मनोभावको हम जितना ही अलङ्कार-विहीन रक्खेंगे उसका रूप उतना ही अधिक स्पष्ट होगा। अँगरेज़ीके प्रसिद्ध कवि वर्डस्वर्थकी भी यही राय थी। उन्होंने उपमाके प्रयोगमें बड़ी कृपणता की है। जब कभी हठात् उन्होंने कोई उपमा भी दी है तब वह Phantom of delight, आनन्दका अप्रत्यक्ष रूप ही रही, जो अनुभव-गम्य होनेपर भी इन्द्रिय-गम्य नहीं है।

हम देखते हैं कि साहित्य-क्षेत्रमें अब दो दल हो गये हैं। एक अलङ्कारपर इतना अनुरक्त है कि उन्हींके निर्माणमें निरत रहता है, दूसरा दल अलङ्कारोंको उपेक्षा की दृष्टिसे देखता है। हमारा ख़याल है कि यदि उपमा और अनुप्रास काव्यदेहके

सिर्फ़ अलङ्कार-मात्र हैं, उसकी शोभा-वृद्धिके लिए हैं, तो उनकी उपेक्षा किसी प्रकार की जा सकती है। परन्तु ये शोभा-वृद्धिके लिए नहीं हैं। सच पूछो तो ये काव्यके अलङ्कार नहीं, प्राणस्वरूप हैं। यह क्यों, सो सुनिए।

संसारमें हम जो कुछ देखते हैं उसकी अप्रत्यक्षमूर्त्ति हमारे हृदयमें अङ्कित हो जाती है। आकाश, वायु, जल, अग्नि आदि सभी वस्तुएं हमारी अनुभूतिके साथ बिलकुल मिल जाती हैं और उन्हींकी सहायतासे अनिर्वचनीय भाव वचनीय होते हैं। हम कोई बात कहना चाहते हैं। यदि हम उसके लिए कोई उपमा दे सकें तो वह बात स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि तब हम उसे एक रूप दे देते हैं। स्त्रीके मुखकी शोभाको देख लेनेपर भी कोई उसको दूसरेके लिए प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। इसलिए जब वह यह कहता है कि मुख चन्द्रमाके सदृश है तब मानो वह सौन्दर्य्यको मूर्तिमान कर देता है। भावको रूप देना उपमाका ही काम है। कविके हृदयकी भावना उपमाके द्वारा ही नाना आकारोंमें प्रकट हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि क्या उपमा सत्यको प्रकट करती है। जब हम मुखको चन्द्रमाके सदृश बतलाते हैं तब क्या हम यथार्थ वस्तुकी ओर आकृष्ट नहीं करते? तब उपमाकी सार्थकता कैसी हुई? यही कारण है कि कभी कभी हम यह समझ लेते हैं कि कविकी अनुभूतिमें सत्य नहीं है। जो लोग वस्तु-मात्रके यथार्थ स्वरूपको देखना चाहते हैं वही ऐसा प्रश्न करते हैं। उनका

कथन है कि विज्ञान ही वस्तुके यथार्थ स्वरूपको प्रकट करता है। उपमा, उनकी समझमें, सत्य की शुभ्र ज्योतिको मलिन करती है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सत्य कोई स्थिर पदार्थ नहीं है। एक रूपसे दूसरे रूपमें जानेसे ही उसका परिचय पूर्णतर होता है। यही काम उपमा भी करती है। वह एक रूपका परिचय दूसरे रूपमें देती है। उपमा सत्यको आबद्ध नहीं करती। वह केवल यही कहती है कि वह इस प्रकार है—अनिर्वचनीयको वह सिर्फ़ वचन गम्य करती है।

अलङ्कारोंकी योजनामें हिन्दीके कवियोंने बड़ी बड़ी विलक्षण उक्तियाँ कही हैं। यहाँ उसके कुछ उदाहरण-मात्र दिये जाते हैं।

शब्दालङ्कारका एक उदाहरण लीजिए—

छिगुनी लौं छरा छोरि डोरे छमकनवारे,
छरहरे छरा छाये छतियाँ की फैलपै।
छात ते उतारि छिति छापै लौं छपाये पायँ,
छिन छिन छीन लङ्क लचकत गैलपै॥
ग्वालकवि छलकै छहर छल छदन लौं,
छाजत छवैया नेह वंशीके बजैलपै।
छपामें छपाकर छपे पै छपि छामोदरी,
छरीले छबीली छकी जात छली छैल पै॥

केशवदासकी एक उत्प्रेक्षा सुनिए—

भाल गुही गुनलाल लटैं लपटी लरमोतिनकी सुख दैनी।
ताहि विलोकत आरसी लैकर आरससों इक सारस नैनी॥

केशव कान्ह दुरे दरसी परसी उपमा मति को अति पैनी।
सूरजमण्डलमें शशिमण्डल मध्य धँसी जनु जाहि त्रिवैनी ॥

देव कविका नेत्र-वर्णन देखिए—

वरुनी बघम्बरमें गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते वसन भगो हैं भेषराखियाँ ।
बूड़ी जलहीमें दिन जामिनि हूँ जागैं भौहैं,
धूम सिर छायौ विरहानलँहु बिलसियाँ ।
असुवाँ फटिक माल लाल डोरी सेली पैन्हि,
भई हैं अकेली ताजि चेरी सङ्ग साखियाँ ॥
दीजिए दरस देव कीजिऐ संजोगिन ये,
जोगिनह्वै बैठी हैं वियोगिनि की अँखियाँ ॥

पद्माकरका वसंत वर्णन सुनिए—

कूलनमें केलिन कछारनमें कुञ्जनमें,
क्यारिनमें कलित कलीन किलकन्त है ।
पढ़ै पदमाकर परागहूँमें पौनहूमें,
पातिनमें पीकन पलाशन पगंत है ॥
द्वारमें दिशानमें दुनीमें देश देशनमें,
देखो दीप दीपनमें दीपत दिगंत है ।
बीथिनमें ब्रजमें नबेलिनमें बेलिनमें,
बनमें बागनमें बगरो बसंत है ॥

हिन्दी कवियोंके कला-कौशलके विषयमें हमारी यही धारणा है । उन्होंने रूप-सागरमें निमग्न होकर जिस सौन्दर्य्य-

रत्नको उपलब्ध किया है उसकी तुलना नहीं हो सकती। उन्होंने हिन्दू-जातिके सामाजिक जीवनमें प्रेम-रसकी धारा बहा दी है। शुष्क और सदोष शृङ्गार-रसके काव्योंसे उस प्रेमकी महत्ता नहीं पहचानी जा सकती। उसके लिए हमें उनके पास जाना पड़ेगा जिन्होंने उसीपर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है। उन्होंने सभीको श्यामके रङ्गमें रङ्गकर एक कर दिया है। यह वह रङ्ग है जिसमें भले-बुरेकी पहचान नहीं। उच्च और नीचका ज्ञान नहीं, सगुण और निर्गुणका भेद नहीं।

८—हिन्दी-साहित्य और पाश्चात्य विद्वान्।

आधुनिक भारतवर्षका शिक्षा-गुरु इँग्लैंड है। जब भारत-वर्षपर ब्रिटिश-जातिका शासन स्थापित हुआ तब यहाँ एक नवीन युगका आविर्भाव हुआ। भारतवर्षने इँग्लैंडसे पाश्चात्य-सभ्यताके मूल सिद्धान्त सीखे और उन्हीं सिद्धान्तोंके आधार-पर उसने अपने सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनको सङ्गठित करनेका उद्योग किया। आधुनिक युगमें जितने धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन हुए उनका कारण पाश्चात्य-सभ्यताका प्रभाव है। विजातीय सभ्यताके प्रभावसे समाजमें विच्छृङ्खलता आ ही जाती है और इसी कारण पाश्चात्य-सभ्यताके सङ्घर्षसे हिन्दू-समाजमें भारतीय मर्यादाकी रक्षा करना कठिन होगया। परन्तु भारतवर्षके लिये यह आघात नया नहीं था। उसने पहले भी कई ऐसे ही आघात सह लिए थे। भारतवर्षके इतिहाससे

यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि जब जब उसपर आघात हुए तब तब उसने उनसे लाभ ही उठाया। जिस प्रकार चन्दनपर आघात करनेसे उसकी सुगन्धि ही निकलती है उसी प्रकार भारतवर्षपर आघात होनेसे उसकी आत्मशक्तिका ही विकास होता है। इसी लिए जब भारतपर आघात हुआ तभी उसने अपनी सत्य-साधनाको एक नये ही रूपमे प्रकट किया। इस्लाम-धर्म बड़ा प्रबल धर्म है। जहाँ जहाँ यह धर्म गया वहाँ वहां इसने अपने विरोधी धर्मको दलित ही किया। जब भारत-पर इस धर्मका प्रबल आघात हुआ तब यहाँ कितने ही साधक उत्पन्न हुए जिनकी वाणीकी आलोचना करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतने अपने अन्तर्तम सत्यको प्रकटकर किस प्रकार इस्लाम-धर्मके आघातको सह लिया। सत्यका आघात केवल सत्य ही ग्रहण कर सकता है। इसी लिए जब किसी धर्मका आघात होता है तब प्रत्येक जाति अपने सत्यके उज्ज्वलतम रूपको प्रकाशित करती है। सत्यके उज्ज्वल प्रकाशमें मिथ्याका अंश नष्ट हो जाता है। मुसलमानोंके अभ्युदय-कालमें हिन्दू-धर्मको अपनी आत्म-रक्षा करनी थी। उस समय नानक, कबीर, दादू आदि सन्तोंने भारतीय सत्यके चिरन्तन रूपको प्रकट किया, उन्होंने यह बतला दिया कि इस्लाम-धर्मका सत्य भारतीय सत्यका विरोधी नहीं है। उन्होंने उस सत्यको स्वायत्त कर लिया। भारतके हृदयमें सत्यकी वह अक्षय निधि है जिसमें सभी सत्योंका ग्रहण किया जा सकता है। इन्हीं महा-

त्माओंकी शिक्षाओंसे हिन्दू और मुसलमानका सम्मिलन हुआ। इस सम्मिलनका फल यह हुआ कि हिन्दी-साहित्यमें कितने ही मुसलमान कवि हुए। इन मुसलमान कवियोंकी रचनायें हिन्दू-जातिकी सम्पत्ति हैं, उनके लिए प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषीको गर्व है। मुसलमानोंके प्रभुत्वका अन्त होनेपर भारतमें ब्रिटिश-जातिके साथ पाश्चात्य जगत्के सत्यकी जयघोषणा हुई। भारतमें नवीन शिक्षाका प्रचार हुआ। इस शिक्षाके द्वारा भारतीय सत्यपर इतना आघात पहुँचा कि स्वयं भारतीय ही उसका अनादर करने लगे। भारतीय साहित्यके विषयमें लार्ड मेकालेने जो सम्मति प्रकट की थी वह अधिकांश शिक्षितोंकी राय हो गई। यद्यपि कुछ समयसे भारतीय विद्वान् अपने साहित्य और भाषाका आदर करने लगे हैं तो भी अभी मातृ-भाषाके प्रति उपेक्षाका भाव विद्यमान ही है। जब भारतीय विद्वानोंकी ही श्रद्धा अपने साहित्यपर कम थी तब पाश्चात्य विद्वानोंसे यह आशा कैसे की जा सकती थी कि उनमें कभी कोई जायसी अथवा रहीम उत्पन्न होगा। ब्रिटिश-जाति यहाँ शासन करनेके लिए आई है, ज्ञानार्जनके लिए नहीं। अतएव शासनके लिए शासित जातियोंकी भाषाओंका जितना ज्ञान आवश्यक है वही उनके लिए पर्याप्त है। कितनोंको तो यह ज्ञान भी असह्य है। इसलिए हिन्दी-भाषा-भाषियोंके लिए वे पाश्चात्य विद्वान् कम आदरके पात्र नहीं हैं जिन्होंने उनकी भाषाके प्रति अपना अकृत्रिम प्रेम प्रकट किया है। यहाँ उन्हींमेंसे कुछ विद्वानोंकी कृतियोंकी चर्चा की जाती है।

भारतीय भाषाओंसे पाश्चात्य जातियोंका सम्पर्क तभी हो चुका था जब वे यहाँ पहले-पहल वाणिज्यके लिये आईं, परन्तु वाणिज्यके लिए विशेष भाषा-ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती और जबतक कोई किसी भाषामें व्युत्पन्न नहीं हो जाता तबतक उसे उस भाषाके साहित्यका ज्ञान कैसे हो सकता है। जब भारतसे योरपका कुछ घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया तब कुछ लोग यहा ईसाई-मतका प्रचार करनेके लिए भी आये। पहले-पहल उन्हींको भारतीय भाषाओंका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता हुई। हेनरिचनाथ नामक एक जर्मनने, सन् १६६४ में, ब्राह्मणोंसे शास्त्रार्थ करनेके लिए संस्कृतका अध्ययन किया था। एक और जर्मन ईसाई, हेक्स लेडन, जो यहाँ १६९९ ईसवी में आया था, संस्कृतज्ञ था। परन्तु भारतीय-साहित्यके अध्ययनकी विशेष आवश्यकता तब हुई जब वारन हेस्टिंग्ज़के समयमें बङ्गालमें अँगरेज़ोंकी प्रभुता स्थापित हुई। वारन हेस्टिंग्ज़ने बङ्गालमें सुशासनकी व्यवस्था की। सुशासनके लिए यह आवश्यक था कि भारतवासियोंकी भाषा, साहित्य, धर्म आदिका ज्ञान हो। फिर बङ्गालमें सुप्रीमकोर्टके स्थापित होनेपर हिन्दुओं और मुसलमानोंके धर्मशास्त्रोंका अध्ययन करना तत्कालीन न्यायाधीशोंके लिए आवश्यक हो गया। इसीसे सबसे पहले सर विलियम जोन्सको अरबी, फ़ारसी और संस्कृतका ज्ञान प्राप्त करना पड़ा। सरविलियम जोन्सने संस्कृत पढ़कर अभिज्ञान शाकुन्तलका अनुवाद कर डाला, जिसका यह फल हुआ कि संस्कृत-

भाषा और उसके साहित्यकी ओर पाश्चात्य विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट हुआ। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और धर्म-विज्ञानकी सृष्टि हुई। क्रमशः सभी पाश्चात्य भाषाओंमें संस्कृतके अनेक ग्रन्थोंके अनुवाद होने लगे। संस्कृतके बाद प्राकृत भाषाओंकी ओर भी इन विद्वानोंका ध्यान गया और बौद्ध धर्म और जैन-धर्मके साहित्य सागरका खूब मन्थन किया गया और अनेक ग्रन्थ-रत्न निकाले गये।

हिन्दी-साहित्यमें पुरातत्त्वके प्रेमियोंके लिए वह सामग्री नहीं थी जो संस्कृत तथा प्राकृत-भाषाओंमें है। इसीलिए पाश्चात्य विद्वानोंकी दृष्टि उसपर नहीं गई। परन्तु पुरातत्त्व-प्रेमियोंके लिए आदरकी वस्तु न होनेपर भी ब्रिटिश-जातिके शासक-वर्गके लिए हिन्दी-भाषा उपेक्षणीय नहीं थी। साहबोंके लिए ऐसी पाठ्य-पुस्तकोंकी आवश्यकता थी जिनसे वे सुगमतासे हिन्दी सीख सकें। ब्रिटिश-जातिके सङ्घर्षसे हिन्दी-साहित्यको प्रारम्भिक कालमें पाठ्य-पुस्तकोंका एक स्तूप मिला। जब फ़ोर्ट विलियम कालेजमें डाक्टर जान गिलक्राइस्ट अध्यक्ष थे तब उनके तथा कैप्टेन अब्राहाम लाकेट, जे० डब्ल्यू० टेलर और डाकृर हण्टरके उत्साह-दानसे कितनी ही पाठ्य-पुस्तकें निर्मित हुईं। डाकृर जानगिल क्राइस्टकी आज्ञासे ही लल्लूलालजीने प्रेमसागर लिखा और सदलमिश्रने नासिकेतोपाख्यान। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तभीसे वर्तमान हिन्दी-गद्यकी सृष्टि हुई। वह तो शासक-वर्गकी बात हुई। ईसाई-धर्मके प्रचारकोंने भी

हिन्दीमें अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये। इनमें सबसे पहले विलियम केरीका नाम आता है। विलियम केरीने पहले पहल बाइबिलका अनुवाद किया। सम्पूर्ण बाइबिलका अनुवाद सन् १८१८ में प्रकाशित हुआ। जान चैम्बरलेन और जान क्रिश्चियनने पद्य-रचना भी की है। इनके सिवा दिल्लीके टामसन साहब इटावेके जानसन साहब तथा वडन साहबके भी नाम उल्लेख करने योग्य हैं। सबसे प्रसिद्ध नाम एथरिङ्गटन साहबका है, जिनके भाषा-भास्करका प्रचार अभीतक हिन्दीकी पाठशालाओंमें है। ईसाई-धर्मके प्रचारकोंने हिन्दी-साहित्यके लिए जो कुछ किया है उसका मूल्य अवश्य है, परन्तु साहित्यकी दृष्टिसे उनका कोई भी काम स्थायी महत्त्व नहीं रखता। अँगरेज़ी साहित्यमें बाइबिलका जो स्थान है वह हिन्दीमें नहीं है। भारतमें कितने ही ऐसे लोग ईसा-मतमें दीक्षित हो चुके हैं जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी है। उन लोगोंके लिए भी बाइबिलका हिन्दी अनुवाद साहित्यका ग्रन्थ नहीं है। यही एक कारण है जिससे हिन्दी-भाषा-भाषी ईसाइयोंमें मातृ-भाषाके प्रति प्रेम नहीं है।

यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है। वह यह है कि जब मुसलमानोंमें जायसीके समान श्रेष्ठ हिन्दी कवि हो सकता है तब क्या कारण है कि ईसाईयोंमें अभीतक कोई ऐसा कवि नहीं हुआ जिसकी रचना हिन्दू-समाजमें आदृत होती। मुसलमानोंमें जो कवि हिन्दू-धर्मकी ओर आकृष्ट हुए थे उनकी बात जाने दीजिए। जायसीकी गणना उन कवियोंमें नहीं हो सकती।

यह कोई नहीं कह सकता कि जायसी अपने धर्मपर दृढ़ नहीं था। जायसीके समयमें मुसलमानोंके लिए जैसा भारतवर्ष था वैसा ही आधुनिक भारतवर्ष ईसाइयोंके लिए है। तो भी हिन्दी-साहित्यके क्षेत्रमें ईसाइयोंकी प्रतिभाका विकास क्यों नहीं हो सका। हमारी समझमें इसका कारण ईसा-धर्म नहीं, किन्तु ईसा-धर्मके अनुयायियोंकी भावना है। यह वह भावना है जिसके कारण ईसाइयोंका दल भारतीय जीवनसे सर्वथा पृथक् हो जाता है। स्वदेश, स्ववेश और स्वभाषाके प्रति अधिकांश ईसाइयोंका अनुराग नहीं है। जिन पाश्चात्य विद्वानोंने भारत-वर्षमें ईसा-धर्मका प्रचार किया उनके लिए भारत स्वदेश नहीं था। स्वदेशकी भावनासे ही स्वभाषापर अकृत्रिम अनुराग होता है। हिन्दी-साहित्यका ज्ञान अर्जितकर जो पाश्चात्य विद्वान् यशस्वी हो चुके हैं उन्होंने भी हिन्दी-साहित्यको पुष्ट नहीं किया। उन्होंने जो कुछ लिखा अँगरेज़ीमें ही लिखा। उन्होंने अँगरेज़ीमें ही हिन्दी-भाषा और साहित्यकी समालोचना की, अँगरेज़ीमें ही हिन्दी-ग्रन्थोंका सम्पादन किया, अँगरेज़ीमें ही हिन्दी-व्याकरणोंकी तुलनामूलक व्याख्या की। यह नहीं कहा जा सकता कि इच्छा करनेपर भी वे हिन्दी-भाषामें अपने मनोभाव नहीं प्रकट कर सकते थे। कितने ही भारतवासी अँगरेज़ीमें ग्रन्थ प्रणयनकर अँगरेज़ोंके भी आदर-पात्र हो गये हैं। अतएव यदि पाश्चात्य विद्वान् प्रयत्न करते तो वे हिन्दीमें भी ग्रन्थ लिख सकते। परन्तु उन्होंने लिखा नहीं। इसका कारण

है कि हिन्दी-भाषा उनके लिए उस मृत शरीरके समान थी जिसको चीर-फाड़कर शरीर-विज्ञानके जिज्ञासु अपना ज्ञान बढ़ा सकते हैं। ईसा-धर्म-प्रचारकोंके लिए हिन्दी उन अन्धविश्वासियोंकी भाषा थी जो घोर नरककी यातना सहनेके लिए ही पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए हैं। यदि भारतवर्षके प्रति मुसलमान-जातिका भी यही भाव होता तो हम जायसी और रहीमको पाते भी नहीं। कुछ ही समयके बाद मुसलमानोंके लिए भारतवर्ष स्वदेश हो गया और स्वदेशकी भावनाने ही उनमें हिन्दी-भाषाके प्रति अनुराग उत्पन्न किया। हिन्दी-भाषा-भाषी ईसाइयोंमें स्वभाषाके प्रति तभी प्रेम उत्पन्न हो सकता है जब वे भारतीय जीवनसे अपनेको पृथक् न समझें। अस्तु।

ब्रिटिश-जातिके शासक-वर्गमेंसे कुछ विद्वानोंने हिन्दी-साहित्यकी बड़ी सेवा की है। इनमें डाक्टर ग्रियर्सन, डाक्टर हार्नली, एफ़० एस० ग्राउस, मिस्टर जानबीम्स आदि विद्वानों-का यशोगान अभीतक किया जाता है। भारतपर ब्रिटिश-जातिका आधिपत्य है, परन्तु उस जातिके अधिकांश लोग भारतके विषयमें नितान्त अनभिज्ञ रहते हैं। इन विद्वानोंने हमारे शासकोंके लिए हिन्दी-भाषाका ज्ञान ही सुलभ नहीं कर दिया, किन्तु उन्हें हिन्दी-साहित्यसे भी परिचित करा दिया। इसके सिवा हिन्दी-भाषाकी खोजके सम्बन्धमें भी उन्होंने बड़ा काम किया है। इस विषयमें उनका कथन प्रमाणरूपमें उपस्थित किया जाता है। शासक और शासित जातियोंमें अभेद्य सम्बन्ध

रखनेके लिए यह भी आवश्यक है कि ब्रिटेन भारतमें सिर्फ़ अफ़सर ही न भेजे, विद्यार्थी भी भेजे। इससे पूर्व और पश्चिम के बीच जो व्यवधान है वह कुछ तो अवश्य हटेगा।

पाश्चात्य विद्वानोंमें एफ़० एस० ग्राउसकी कीर्त्तिका सबसे अच्छा स्मारक रामचरितमानसका अनुवाद है। ग्राउस साहबका जन्म सन् १८३६ में हुआ था। आप आक्सफ़ोर्ड विश्व-विद्यालयके एम० ए० थे। सन् १८६० में आप बङ्गालकी सिविल सर्विसमें प्रविष्ट हुए। बीस वर्षतक आपने यहाँ काम किया। सन् १८७६ में आपने रामचरितमानसकी प्रस्तावनाका अनुवाद प्रकाशित कराया। सन् १८८० में उसका पूरा अनुवाद छप गया। आपका यह अनुवाद बड़ा अच्छा हुआ है। भाषा और भाव दोनोंकी दृष्टिसे अनुवाद अच्छा है। इँग्लैंडमें रामचरितमानसका प्रचार आपसे ही हुआ, यद्यपि उसकी महत्ता डाकृर ग्रियर्सन साहबने भी प्रदर्शित की। डाकृर साहब तुलसी-दासजीके भक्तोंमेंसे हैं। उन्होंने रामचरितमानसकी बड़ी प्रशंसा की है। इसी सम्बन्धमें इटलीके डाकृर टैसीटोरीका भी नाम उल्लेख करने योग्य है। आपने अपने देशमें तुलसी-दासजीका गौरव बतलाया था। आपकी मृत्यु इसी देशमें—बीकानेरमें—हुई थी।

मिस्टर जान बीम्सका नाम 'भारतीय आर्य भाषाओंका तारतम्यबोधक व्याकरण' लिखनेके कारण हुआ। परन्तु चन्द-बरदाईकी कविताका अध्ययन पहले-पहल आपने ही किया।

आपने चन्दकी कविताका छन्दोबद्ध अनुवाद करना भी आरम्भ किया था। परन्तु जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि रासोके कर्त्ता चन्द हैं या नहीं, तब आपने यह अनुवाद-कार्य छोड़ दिया। डाक्टर हार्नलीने रासोके एक भागका अनुवादकर एशियाटिक सोसाइटीकी Bibliothica Indica नामक ग्रन्थमालामें छपवाया था। बीम्स साहबने चन्दकी भाषापर कई लेख लिखे थे।

ग्रियर्सन साहबने भाषा-सम्बन्धी जाँचका जो काम किया है वह अमूल्य है। इसके पहले सन् १८६४ में आपने बिहारी-सतसईका एक संस्करण प्रकाशित किया था। इसे आपने बड़े परिश्रमसे तैयार किया था। आपने जायसीके पद्मावतका भी एक संस्करण निकाला था। एम० ए० मैक्लिफ़ नामक एक विद्वान्ने सिक्खरिलीजन नामक एक बृहत् ग्रन्थ लिखा है। यह छः जिल्दोंमें समाप्त हुआ है। इसका प्रकाशन क्लेरेंडन प्रेससे हुआ। इसमें ग्रन्थ साहबका अनुवाद है। डब्ल्यू० आर० पागसन साहबका लिखा हुआ बुन्देलोंका इतिहास है। उसमें लालकविके छत्रप्रकाशका अनुवाद है।

हिन्दीके हितैषियोंमें पिंकाट साहबका नाम सदैव प्रेम और श्रद्धाके साथ लिया जायगा। पिंकाट साहके चरित-लेखकने लिखा है कि यों तो आजतक कई योरोपियन विद्वानोंका ध्यान हिन्दीकी ओर रहा, पर यदि हमसे कोई पूछे कि किस महानुभावने उसके हितके लिए सबसे अधिक व्यग्रता दिखाई, किसने उसके भाण्डारमें अपने हाथोंसे कुछ रखनेका कष्ट उठाया, कौन

उसकी बढ़ती देखकर सबसे अधिक प्रफुल्लित हुआ और कौन उसके बोलनेवालोंकी ओर सबसे अधिक आकर्षित हुआ तो हमको फ्रेडरिक पिंकाटका ही नाम लेना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि पिंकाट साहब भारतवर्षके सच्चे मित्र थे। वे अपनेको हिन्दुस्तानका मित्र लिखते भी थे। भारतपर उनका अकृत्रिम प्रेम था। वे भारतवर्ष कभी नहीं आये। उनका जीवन इँग्लेण्डमें ही व्यतीत हुआ। वहीं वे एक छापेखानेके मैनेजर थे। परन्तु भारतीय साहित्य और भारतीय प्रजाकी हित-कामनामें वे सदैव निरत रहे। उन्होंने अपने एक पत्रमे—जो सरस्वतीमें प्रकाशित हो चुका है—अपने हृदयका सच्चा उद्गार प्रकट किया था। उन्होंने लिखा था—यद्यपि मैं हिन्दुस्तानमें कभी नहीं रहा तथापि बहुत कालसे उस देशकी भाषाओंका अध्ययन मेरे लिए एक बहुत ही मनोरञ्जक कार्य रहा। मेरी सम्मतिमें हर एकके लिए अपने भरसक अँगरेजों और हिन्दुओं-के बीच एका स्थापित करना एक बहुत ही प्रशंसनीय काम है। परस्पर एक दूसरेकी प्रतिष्ठा करना तबतक अप्रारम्भ है जबतक दोनो एक दूसरेके ज्ञान और बुद्धिबलकी इयत्ता न समझ लें। अतएव दोनों जातियोंको मिलजुलकर साथ साथ रहनेके लिए उनकी भाषायें सीखना और उनकी पुस्तकें पढ़ना बहुत ज़रूरी है। पिंकाट साहबने स्वयं भारतीय भाषा और साहित्यका अध्ययन किया और इँग्लेण्डमें उसका प्रचार भी किया।

योरपकी वर्तमान सभ्यताका उद्गार एशियामें ही हुआ

था। एशियासे ही सभ्यताका पाठ पढ़कर योरपने अब, पाँच छः सौ वर्षों के बाद अपनी एक विशेष सभ्यताकी सृष्टि की है। अँगरेजी भाषा और साहित्यका प्रचार बढ़नेपर भारतीयोंने उस नवीन ज्ञानालोकका दर्शन किया है। यह उनके आधुनिक साहित्यसे प्रकट होता है। यदि ज्ञानके क्षेत्रमें पूर्व और पश्चिमका सम्मिलन हो जाय, यदि दोनों एक दूसरेके तत्त्व हृदयङ्गम कर लें, तो पूर्व और पश्चिमके सम्बन्ध-स्थापनसे एक अपूर्व साहित्य और सभ्यताकी सृष्टि होगी। अतएव जो लोग इस मिलनके पुरस्कर्ता हैं वे समस्त मानव-जातिके हितैषी हैं।

---

(८) आधुनिक हिन्दी-साहित्य

आधुनिक हिन्दी-साहित्यके प्रारम्भमें लल्लूलाल, राजा लक्ष्मणसिंह, राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके नाम प्रसिद्ध हैं। लल्लूलालजीका प्रेमसागर अभीतक आदरणीय है। राजा लक्ष्मणसिंहने कालिदासके रघुवंश, मेघदूत और अभिज्ञान शाकुन्तलका अनुवादकरके हिन्दी-साहित्यकी श्री वृद्धि की। राजा शिवप्रसादजीसे हिन्दी-साहित्यको प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तकें प्राप्त हुई। भारतेन्दुजीकी कुछ रचनायें हिन्दीकी स्थायी सम्पत्ति हैं। इनकी रचनाओंसे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि साहित्यका आदर्श ही बदल गया। लोगोंने मानव-जीवनसे ही

कलाकी सामग्री प्राप्त करनेकी चेष्टा की। यह प्रयत्न अभी-तक हो रहा है। हरिश्चन्द्रके पहले सज्जाद सुम्बुल तथा परीक्षा-गुरुके समान ग्रन्थोंकी रचना नहीं की जा सकती। ये दो ग्रन्थ साहित्यके श्रेष्ठ रत्न नहीं हैं, परन्तु इनसे यह प्रगट हो जाता है कि हिन्दीमें मनुष्यकी कलाका विषय हो गया है, नायकके रूपमें नहीं किन्तु अपने यथार्थ रूपमें।

ऊपर हम कह आये हैं कि आधुनिक साहित्यमें कुछ ही ग्रन्थ स्थायी साहित्यमें परिगणित हो सकते हैं। साहित्यके दो विभाग किये जा सकते हैं, एक तो सामयिक साहित्य जो समाजका अनुसरण करता है और दूसरा स्थायी साहित्य जो समाजके भविष्य-भाग्यका विधाता है। सामयिक साहित्य समाजकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह उसकी रुचिके अनुकूल ही चलता है, पर स्थायी साहित्यको समाजके विरुद्ध भी चलना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे पहले-पहल उसकी उपेक्षा की जाती है, फिर उपहास किया जाता है और अन्तमें उसपर घोर आघात भी किये जाते हैं। यदि वह इन सबका सामना कर सका तो समझना चाहिए कि वह चिर-कालतक जीवित रहेगा।

हिन्दीमें आज-कल सामयिक कविताओंकी ही धूम है। देशके सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रमें जो आन्दोलन हो रहे हैं उन्हींका अनुसरण कर कविताओंकी रचना की जाती है। जिधर समाजकी आकृष्टि होती है उधर कवियोंकी भी दृष्टि

जाती है। ऐसी रचनायें निरर्थक नहीं होतीं। इनसे तत्कालीन भावोंका अच्छा प्रचार हो जाता है। पर यहीं उनकी उपयोगिताका अन्त हो जाता है। अब हम हिन्दी-साहित्यकी आधुनिक कविताओंपर विचार करना चाहते हैं।

वर्तमान हिन्दी-काव्योंकी तीन विशेषतायें हैं। पहली विशेषता यह है कि अब कविताओंके लिए खड़ी बोली प्रयुक्त की जाती है। खड़ी बोलीके पक्षपाती उसका पक्ष-समर्थन इसी लिए करते हैं कि उसके द्वारा गद्य और पद्यकी भाषा कभी एक हो जायगी। ब्रज-भाषाकी प्रान्तीयताको हटाकर वे हिन्दीमें राष्ट्रीयताका समावेश करना चाहते हैं। दूसरी बात यह है कि कविता प्रासादिक होनेके कारण जनताके लिए बोध-गम्य हो जायगी और तब उसके द्वारा लोगोंमे सुरुचि फैलेगी। यह सच है कि हिन्दीके प्राचीन काव्योंमें भाव और माधुर्यकी प्रचुरता है। परन्तु भाव और माधुर्यका ठेका न तो ब्रज-भाषाने लिया है और न खड़ी बोलीने ही। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि गद्य और पद्यकी भाषा कभी एक नहीं हो सकती। कोई कितना भी कवित्व-पूर्ण गद्य क्यों न लिखे, वह भाषा पद्यके लिए उपयुक्त हो नहीं सकती। गद्यको पद्यमें परिणत करते ही उसका स्वरूप बदल जाता है। न तो गद्यकी मधुरता पद्यमें आ सकती है और न पद्यकी मधुरता गद्यमें ही। हिन्दी-साहित्यमें खड़ी बोलीकी कविताओंकी जो वृद्धि हो रही है उसका कारण ढूँढ़नेके लिए हमें वर्तमान समाजकी ओर ध्यान देना

चाहिए। भारतवर्षके लिए यह युग परिवर्तन-काल है। अङ्ग-रेज़ी शिक्षाका प्रभाव भारतपर ख़ूब पड़ा। अङ्गरेज़ी शिक्षाकी बदौलत भिन्न भिन्न प्रान्तोंका पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ रहा है। वर्तमान युगकी नवीनताने समाजको अस्थिर कर दिया। सभी लोग आत्मोन्नतिके लिए कटि-बद्ध हो गये हैं। उन्हें अपनी वर्तमान स्थितिसे असन्तोष है। असन्तोषका यह भाव इतना तीव्र हो गया है कि लोगोंको भूतकालका बन्धन असह्य है। अतएव जब कोई यह कहता है कि तुम्हारे भावोंकी अभिव्यक्ति-के लिए इतना ही स्थान है, इससे अधिक तुम नहीं जा सकते, तब लोग उस निर्धारित सीमाको भङ्ग कर डालते हैं। सभी देशोंमें यही भाव कभी न कभी जाग्रत होता ही है। समाजमें जब किसी नवीन भावका विशेष प्राबल्य होता है तब वह उस भावको व्यक्त करनेके लिए नवीन पथ ढूँढ निकालता है। बौद्ध-कालमें प्राचीन संस्कृतका स्थान प्राकृतने ले लिया। इसका कारण यह नहीं है कि संस्कृत-भाषा अनुपयुक्त है। बात यह है कि बौद्ध-धर्मके सार्वजनिक भावोंके लिए सार्वजनिक भाषा-की ज़रूरत थी। इसीलिए प्राकृतका प्राबल्य हुआ। बौद्ध-धर्मका पतन होनेपर संस्कृत-साहित्यका पुनरुद्भव हुआ, परन्तु शीघ्र ही उसका प्रचार अत्यन्त परिमित हो गया। हिन्दीमें जबतक भक्तिवादका प्राबल्य था तबतक ब्रज-भाषाका आदर था। परन्तु जब ब्रज-भाषाके साहित्यने काव्य-कलाके चम-त्कारपर अपनी शक्ति लगा दी तब वह सार्वजनिक न होकर

परिमित हो गया और अब राष्ट्रीय भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए खड़ी बोली उपयुक्त समझी जाती है। खड़ी बोलीकी प्रचार वृद्धिसे भारतकी वर्तमान अवस्था सूचित होती है।

हिन्दीके सामयिक पत्रोंमें आजकल जो कवितायें निकलती हैं उनमें अभी कलाका विशेष चमत्कार नहीं देखा जाता। हमारे कविगण स्पष्ट बातें कहते हैं। उन्होंने अपनी कविता-कामिनीका मुख किसी अवगुण्ठनसे नहीं ढका है। दो एकको छोड़कर प्रायः सभी कवि आचार्यके आसनपर बैठकर लोगोंको कर्तव्या-कर्तव्यकी शिक्षा देते हैं। उनकी सम्मति है कि कवियोंका काम मनोरञ्जन नहीं, शिक्षा-दान है। अतएव शिक्षाके नामसे वे स्कूलोंकी दीवारोंपर चिपकाने योग्य उपदेशोंके गट्ठे हिन्दीके पाठकोंपर लाद रहे हैं। कोई कवि करुणाव्यञ्जक स्वरसे उपदेश देता है तो कोई निदेश-सूचक वाक्योंमें शिक्षा प्रदान करता है। अब कुछ समयसे राष्ट्रीय गानोंकी गर्जना सुनाई दे रही है। राष्ट्रीय भावोंकी पोषक जो कवितायें हिन्दीके पत्रोंमें छपती हैं उनमेंसे अधिकांश 'खूं' और 'कलेजे'से लबरेज़ रहती हैं। उनमें उर्दू-हिन्दीका विचित्र सम्मिश्रण देखकर यह कोई भी कह सकता है कि अब हिन्दू-मुसलमानकी एकता स्थापित हो गई है!

सोलन नामक एक ग्रीक विद्वान्‌का कथन है कि जबतक तुम किसीका अन्त न देख लो तबतक उसकी सफलता अथवा असफलताका निश्चय मत करो। हिन्दीकी आधुनिक कविता-का अभी आरम्भ ही हुआ है। अतएव अभी हम यह नहीं कह

सकते कि उसे सफलता प्राप्त होगी या नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि अब लोग खड़ी बोलीकी कविताका विरोध नहीं करते। भारत-भारती और प्रिय-प्रवास खड़ी बोलीके ही काव्य हैं। इनका प्रचार भी अच्छा हुआ है। परन्तु क्या वे दोनों काव्य हिन्दीकी स्थायी सम्पत्ति हैं? क्या पचास साठ वर्षके बाद भी ये ऐसे ही लोक-प्रिय बने रहेंगे? हम जानना चाहते हैं कि खड़ी बोलीके काव्यमें भी स्थायित्व-गुण है कि नहीं। इसी दृष्टिसे आज हम हिन्दीके कुछ कवियोंकी रचनाओंपर विचार करना चाहते हैं।

एडीसन अङ्गरेजीका एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार है। उसके गद्यात्मक लेखोंकी बड़ी तारीफ़ है। पर अपने जीवन-कालमें उसने अपनी पद्यात्मक रचनाओंके कारण भी यश प्राप्त किया था। जब उसने ड्यूक आव् मार्लबरोकी विजयके उपलक्षमें काव्य लिखा तब इँग्लेंडमें धूम मच गई। लोगोंने वाह वाहके पुल बांध दिये और इंग्लेंडके प्रधान सचिवने एडीसनके गलेमें जय-माला डाल दी। परन्तु आज उसके काव्यको कोई पूछता भी नहीं। इसका क्या कारण है? बात यह है कि विषय सामयिक होनेपर लोगोंके लिए चित्ताकर्षक रहता है, इसलिए उसका प्रचार खूब होता है। पर जब बात पुरानी पड़ जाती है तब उसे जाननेके लिए लोगोंकी उत्सुकता नहीं रहती। यदि काव्यका विषय देश कालमें अनवच्छिन्न हो तो उसका प्रचार अधिक कालतक रहता है। विषयके साथ ही उसकी

विवेचनामें भी मौलिकता रहनी चाहिए। विलक्षण होनेसे ही कोई रचना आदृत होती है। उसकी यह विलक्षणता भी स्थायी होनी चाहिए। पोपके पहले अँगरेज़ीमे कुछ तुक्कड़ोंने अपने जीवन-कालमें अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। परन्तु पोपका अभ्युदय होते ही उनकी कीर्ति लुप्त हो गई। बात यह थी कि जबतक पोप नहीं हुआ था तबतक उन्हींकी तुकबन्दियाँ असाधारण समझी जाती थीं। पर जब पोपने लोगोंको तुककी अन्तिम सीमा दिखला दी तब वे कैसे टिकते। खड़ी बोलीकी अधिकांश कवितायें सामयिक हैं। उनका महत्व क्षणिक है। उनकी विलक्षणता भी अस्थायी है। ऐसी कविताओंकी कौमुदी साहित्यके निशाकालमें ही शोभा पा सकती हैं। सम्भव है किसी काव्य-प्रभाकरके उदयसे उनकी कविता-कौमुदी निष्प्रभ हो जाय। अस्तु।

आज-कल हिन्दीके पाँच कवि लब्धप्रतिष्ठ हैं—पण्डित श्रीधर पाठक, पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पण्डित नाथूराम शङ्कर शर्मा और पण्डित रामचरित उपाध्याय। पाठकजीकी कवितामें सरलता है, उपाध्यायजीकी रचनामें उनका भाषाधिकार लक्षित होता है, गुप्तजीकी कृतिमें माधुर्य है और रामचरित उपाध्यायजीकी कवितामें आडम्बर-हीन गम्भीरता है। शङ्करजीका स्थान इन सबसे पृथक् है। गुप्तजीके तो वे बिलकुल विरुद्ध हैं। उनकी कवितामें एक प्रकारकी उद्दण्डता है। पढ़ते समय ऐसा जान पड़ता है कि कविको शब्द भी असह्य हो गया है—

शंख जो बराबरीकी घोषणा सुनावेगा तो
नार कट जायगी उदर फट जायगा।
शंकर कलीकी छबि कदली दिखावेगा तो
ऐंठ अट जायगी छवाउ छूट जायगा।

शङ्करजीने अपनी कविताके विषयमें स्वयं लिखा है—मिसरीके साथ बाँस फाँसका सा मेल जान शङ्करकी भद्दी कविता भी पढ़ लीजिए। सचमुच आपकी कविता मिश्रीकी डली है। यदि कोई इस मिस्रीसे बांसकी फांसको अलग निकालनेकी चेष्टा करेगा तो वह मिस्री भी खो बैठेगा। पर गुरूजीकी रचना मक्खनके समान मधुर और कोमल है। उसके रसास्वादनमें ज़रा भी तकलीफ न होगी।

कवियोंमें गर्वकी मात्रा अधिक रहती है। कुछ लोग कवियोंकी गर्वोक्तियोंपर आक्षेप करते हैं। उनका कथन है कि ये शालीनता-सूचक नहीं। कालिदास और तुलसीदास बड़े भारी कवि थे। उन्होंने अपने काव्योंमें एक भी अभिमान-सूचक शब्द नहीं लिखा। पर हम इसे नहीं मानते। जब किसी कविने अनन्त सत्यका आभास पा लिया है तब यह सम्भव नहीं कि वह उसकी परीक्षाके लिए संसारका आह्वान न करे। जब भवभूतिने यह कहा कि मेरी रचना अक्षय है तब उसने यही प्रकट किया कि जिस सत्यका वर्णन मैंने अपने नाटकोंमें किया है वह अक्षय है। यदि कभी कोई मेरा समानधर्मा होगा तो वह

उस सत्यका दर्शन कर लेगा। कालिदासजी और तुलसीदास-जीने भी यही बात कही है, यद्यपि उनके कहनेका ढङ्ग भिन्न है। कालिदासने लिखा है कि सुवर्णकी परीक्षा अग्निसे ही होती है। अतएव मेरी रचनाकी परीक्षा करनेके अधिकारी सभी नहीं हैं। यदि तुम्हें मेरी रचना सदोष मालूम होती है तो उसे आगमें डालकर देख लो। वह दीप्तिमती होकर निकलती है कि नहीं।

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः

हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।

उनके इस कथनका क्या दूसरा अभिप्राय है? तुलसीदास-जीने लिखा है—

सपनेहु साचेहु मोहिपर जो हरगौरि पसाउ

तौ फुर होउ जो कहेंउ सब भाषा भनिति प्रभाउ

यह गर्वोक्ति नहीं, इससे कविकी आत्म-शक्ति सूचित होती है। इसीके कारण कविका आसन सर्वसाधारणसे ऊँचा रहता है। शङ्करजीकी रचनामें उनका यह आत्म-विश्वास साफ़ लक्षित होता है। गुप्तजीका 'भगवान भारतवर्षमें गूँजे हमारी भारती' उनका आत्म-शैथिल्य प्रकट करता है। मिल्टन और मधुसूदनदत्तने वाग्देवीको आह्वान किया। उनका अभिप्राय यह था कि हमारे मुखसे कविताकी वह धारा निकले जो वाग्देवीके मुखमें शोभा दे। पर गुप्तजी भगवान्‌की कृपासे अपनी भारतीका प्रचार करना चाहते हैं।

गेटीका कथन है कि कविमें एक अलक्षित शक्ति निवास करती है। उसीकी प्रेरणासे वह कविता लिखता है। कवि उस शक्तिके हाथमें वीणामात्र है। रवीन्द्र बाबूने अपनी कवितामें इस शक्तिका स्पष्ट उल्लेख किया है। जो इस शक्तिका अनुभव नहीं करता वह कवि नहीं, तुक्कड है। जो यथार्थमें कवि होता है उसका भाषापर पूरा प्रधान्य रहता है। कवि भाषाका अनुगमन नहीं करता, पर भाषा कविका अनुगमन करती है। कवि न तो मुहावरोंका ख़याल रखता है और न अलङ्कारका। जो लोग मुहावरोंका Procrustean bed बनाकर उसीके अनुसार अपने कवित्वको काटते छांटते हैं वे वैयाकरण हो सकते हैं, पर कवि नहीं। शङ्करजी अपनी रचनामें भाषाको खींच लाते हैं, उसके पीछे दौड़ते नहीं, वे अलङ्कारोंका जमघट लगा देते हैं। जो परीक्षक होगा वही उनमेंसे रत्न चुनता रहेगा। वही बतावेगा कि कौन पुराने रत्न हैं और कौन नये रत्न। शङ्करजीको इसकी परवा नहीं है।

कज्जलके कूटपर दीप-शिखा सोती है कि,
श्याम घन मंडलमें दामिनीकी धारा है।
यामिनीके अंकमें कलाधरकी कोर है कि,
राहुके कबन्ध पै कराल केतु तारा है॥
शंकर कसौटीपर कंचनकी लीक है कि,
तेजने तिमिरके हियेमें तीर मारा है।

काली पाटियोंके बीच मोहिनीकी मांग है कि,

ढालपर खांडा कामदेवका दुधारा है ॥

उपर्युक्त कवियोंमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। उनकी लोकप्रियताका अनुमान इसीसे हो सकता है कि नये ग्रन्थोंमें जितना प्रचार उनकी भारत-भारती-का हुआ उतना और किसी ग्रथका नहीं। उनकी कविताकी पहली विशेषता है मधुरता और भावकी स्पष्टता। हमारा विश्वास है कि करुणारसका चित्र अङ्कित करनेमें वे सबसे अधिक सफल हुए हैं। रंगमें भग, जमद्रथवध, भारत-भारती और कृषकमें कितने ही पद्य करुणारसोत्पादक हैं। उनके पद्योंका नमूना देना व्यर्थ है।

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्यायका प्रियप्रवास खूब प्रसिद्ध हुआ। यदि यह महाकाव्य न होकर एक छोटा काव्य होता तो हमारी समझमें अधिक लोकप्रिय होता। उपाध्यायजी भिन्न-भिन्न शैलियोंमें काव्य-रचना करते हैं। उनके चौपदेकी भाषासे प्रियप्रवासकी तुलना करनेसे उनका भाषाधिकार विदित होता है। रामचरित उपाध्यायजीका रामचरित चिन्तामणि हिन्दीमें आदरणीय है।

उपर्युक्त कवियोंकी कविताओंमें मौलिकता है, नवीनता है, भावकी विशदता है और गम्भीरता। अच्छी रचनायें अल्प-संख्यक हैं सही, पर उनमें वह गुण है जो वर्तमान हिन्दी-

साहित्यमें आदरणीय है। इससे हम कह सकते हैं कि खड़ी बोलीकी कविताका भविष्य उज्ज्वल है। अभी हिन्दी-साहित्यके कज्जल-कूटपर इन्हींकी दीपशिखा शोभा दे रही है। हमें विश्वास है कि यह दीप-शिखा कभी मलिन न होगी।

आजकल हिन्दी-साहित्यमें नये नये ग्रन्थ खूब निकल रहे हैं। शायद ही कोई ऐसा महीना जाता हो जिसमे दस पाँच किताबें प्रकाशित न होती हों। लेखकोंका ध्यान महत्वपूर्ण विषयोंपर है और पुस्तक प्रकाशक ग्रन्थोंकी छपाई-सफ़ाईपर खूब ध्यान देते हैं। कभी कभी सचित्र किताब भी प्रकाशित हो जाती है। इन सब बातोंसे यह साफ़ सूचित होता है कि अब हिन्दीका भाग्य जागा है। यदि इसी तरह ग्रन्थोंका प्रकाशन होता रहे तो हमें विश्वास है कि शीघ्र ही हिन्दी-साहित्य भी खूब समुन्नत हो जायगा। यहाँ हम पाठकोंको हिन्दीकी कुछ नई पुस्तकोंका परिचय देना चाहते हैं।

काव्य—सिडनीने लिखा है कि मनुष्यके अन्तर्जगत्के रत्नोंमें काव्य सबसे श्रेष्ठ है। इसकी प्रभा सर्वत्र, सदैव, उज्ज्वल बनी रहती है। परन्तु भाषाके कारण काव्यकी यह ज्योति एक ही देशमें अवरुद्ध रहती है। कविके आदर्श विश्वमात्रके लिए श्रेयस्कर हैं। अतएव उनकी कृतिका सर्वत्र प्रचार होना चाहिए। इसीलिए काव्य-ग्रन्थोंके अनुवाद किये जाते हैं। कुछ विद्वान् अनुवादको बिलकुल निस्सार समझते हैं, विशेषकर काव्योंके अनुवादको। अँगरेजीमें पोपने होमरके काव्यका अनु-

वाद किया है। पर पोपका अनुवाद पोप ही की कृति है, उसमें पोपकी विशेषता है, होमरकी नहीं। पाश्चात्य विद्वानोंकी यही राय है। कहते हैं कि इसी कारण इंग्लैंडके प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ डिज़रायलीने किसी साहित्य-सेवीसे कहा था, "अनुवाद कभी मत करना।" अनुवादमें सफलता न होनेका एक कारण है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिमें उसका व्यक्तित्व रहता है उसी प्रकार प्रत्येक देशमें उसीकी एक विशेषता रहती है। भाषा-भावका वाह्य रूप है। अतएव जिस देशमें जिस भावकी प्रधानता है उसकी भाषा भी तदनुकूल रहेगी। एक बार एक पाश्चात्य विद्वान्ने कहा था कि अँगरेज़ी भाषा ही ईसाई है। ईसा-धर्मसे वह किसी प्रकार पृथक् नहीं की जा सकती। शब्दों तकमें एक ऐसी विशेषता है जो उनके पर्यायवाची शब्दोंमें नहीं है। हिन्दीके 'तप' के लिए अँगरेज़ीमें कोई भी शब्द नहीं है। जब भिन्न भिन्न जातियोंका परस्पर सङ्घट्टन होता है तब एकपर दूसरेकी भाषाका भी प्रभाव पडता है और इससे भाषा अधिक व्यापक हो जाती है। तब उसके विभिन्न भावोंकी भी अभिव्यक्ति हो सकती है। हिन्दीमें पण्डित श्रीधर पाठकने गोल्डस्मिथकी कविताओंका अनुवाद किया है। उनकी प्रशंसा तो खूब हुई, परन्तु अब उनका प्रचार एक प्रकारसे बन्द ही है। बङ्गला काव्योंके अनुवादमें श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्तने बड़ी सफलता प्राप्त की है। परन्तु उनके भी अनुवादोंमें मूल ग्रन्थोंका रस नहीं आ सका है। बात यह है कि हिन्दी-भाषाका क्षेत्र

अभी सङ्कुचित है। उसपर मुसलमानोंका प्रभाव खूब पड़ा है। इसलिए यदि हम उसमें इस्लाम-धर्मके भावोंको प्रकट करना चाहें तो हम कृतकार्य हो सकते हैं। बँगलाने अब एक विशेष रूप धारण कर लिया है। वह खूब व्यापक हो गई है। हिन्दीमें अभी बँगला काव्योंके अनुवाद करनेमें हमें उतनी सफलता नहीं हो सकती। फिर एक बात और है। काव्यमें कविकी आत्मा रहती है, उसका एक विशेषत्व रहता है। वह उसके अनुवादकमें नहीं आ सकता। यही कारण है कि कविवर मधुपके "पलासीयुद्ध" से हमें सन्तोष नहीं हुआ। माडर्न रिव्यूके समालोचकने इसके सम्बन्धमें कहा था कि अनुवादकने स्वच्छन्दतासे काम नहीं लिया, नहीं तो उन्हें अनुवादमें अधिक सफलता होती। पलासी-युद्धके विषयमें कहा गया है कि 'कविने आग्नेयगिरिके अग्निस्रावके साथ करुणा-मन्दाकिनीकी पवित्र धारा बहाई है।' पर हमने अनुवादमें न तो अग्निकी ज्वालाका अनुभव किया और न हमें मन्दाकिनी प्रवाहका ही दर्शन मिला। हाँ, उसमें हमने मधुपके माधुर्यका रसास्वादन अवश्य किया।

नाटक—हिन्दीमें मौलिक नाटकोंकी संख्या बहुत कम है। भारतेन्दुजीके नाटक विद्यार्थियोंके पाठ्य ग्रन्थ हो गये हैं। उनके सत्य हरिश्चन्द्र और नीलदेवीके अभिनय भी हुए हैं। परन्तु अब उनके अभिनयोंसे दर्शकोंको कदाचित् सन्तोष न हो। रणधीर-प्रेममोहिनी, सज्जाद-सम्बुल, चन्द्रकला-भानु कुमार आदि

नाटक पुस्तकालयकी ही शोभा बढ़ा सकते हैं। अभी हालमें जो दो चार नाटक निकले हैं वे बिलकुल निस्सार हैं। प्रेमचन्दजीका संग्राम अवश्य चित्ताकर्षक है। हिन्दीमें कुछ अच्छे नाटकोंके अनुवाद हुए हैं।

बम्बईके हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालयने द्विजेन्द्रलाल राँयके सभी नाटकोंके अनुवाद करा डाले। इनमें, हमारी समझमें, 'उस पार' सबसे अच्छा है और 'पाषाणी' सबसे निकृष्ट। पण्डित रूपनारायण पाण्डेय गज़बके अनुवादक हैं। आप गद्य-पद्य दोनों अच्छी तरह लिख सकते हैं। ताराबाई आपकी पद्यात्मक रचनाका नमूना है और उसमें आपको सफलता भी अच्छी हुई है। पर सभी नाटकोंमें आप वह रस नहीं ला सके। दो चार नाटकोंमें तो आपकी शक्ति बिलकुल ही क्षीण हो गई है। ऐसा जान पड़ता है कि आपको अनुवाद करना था, इसलिए किसी तरह उससे अपना पिण्ड छुड़ा लिया।

भारतवर्षमें अँगरेज़ी शिक्षाके साथ साथ शेक्सपियरका भी आगमन हुआ। यहाँ स्कूलों और कालेजोंमें शेक्सपियरके नाटक पढ़ाये जाते हैं। इसलिए शिक्षित लोगोंमें तो उसके नाटकोंका प्रचार है, पर सर्वसाधारणमें अभीतक उनका अच्छा प्रचार नहीं। नाटक सर्वसाधारणके लिए ही लिखे जाते हैं। यह खेदकी बात है कि अभी भारतवर्षके अधिकांश लोग शेक्सपियरके नाटकोंका आस्वादन नहीं कर सकते। बङ्गालमें पहले-पहल शेक्सपियरके नाटकोंके आधारपर कहानियों और उपन्यासोंकी

रचनायें हुईं। वद्यासागरका भ्रान्ति-विलास, कविवर हेमचन्द्र चट्टोपाध्यायका नलनी-वसन्त, दीनबन्धु मित्रका जलधर और वकेश्वर, हेमलेटका छायानुवाद हरिराज आदि ग्रन्थ इसी कोटिके हैं। गिरीशचन्द्रने ही सबसे पहले मैकबेथका अनुवाद बँगलामें किया। उनका यह अनुवाद हुआ भी अच्छा। हालमें ही उथेलोका एक अच्छा अनुवाद, बंगलामें, श्रीयुक्त देवेन्द्रनाथ वसुने किया है।

हिन्दीमें अभीतक शेक्सपियरके नाटकोंका अच्छा अनुवाद नही निकला। बम्बई और कलकत्तेकी पारसी-नाटक मण्डलियोंने शेक्सपियरके कुछ नाटकोंके भ्रष्ट अनुवाद ज़रूर कराये हैं उनमें शेक्सपियरके नाटकोंका बड़ा ही विकृत रूप देखनेमें आता है। बाबू गदाधरसिंहने उथेळोको उपन्यासके ढङ्गपर लिखा है भारतेन्दु बाबू हरिचन्द्रने मर्चेन्ट आव् वेनिसका अनुवाद किया है। उसीका एक अनुवाद बम्बईसे भी प्रकाशित हुआ है। इस प्रान्तके एक लाला साहबने भी दो नाटकोंको हिन्दीमें लिखा है। काशीसे हेमलेटका एक अनुवाद निकला है। उथेलोका भी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। पुरोहित गोपीनाथ, एम० ए०, ने भी दो एक नाटकोंका अनुवाद किया है। सिरसा, ज़िला इलाहाबाद, के परलोकवासी बाबू काशीनाथ खत्रीके लिखे हुए—कहानीके रूपमें भी—कई नाटक विद्यमान हैं। इसके सिवा शेक्सपियरके नाटकोंका कथाभाग उपन्यासके ढङ्गपर और भी कई महाशयोंने लिखा है। पर शेक्सपियरकी प्रतिभा देखनेके

लिए ये लेख पर्याप्त नहीं। शेक्सपियरके नाटकोंका सफलता-पूर्वक अनुवादकर लेना कठिन है। इसका सबसे बड़ा कारण है, उनके विदेशीय भाव। भारतवर्षके समाजमें और इँग्लैंडके समाजमें बड़ी विभिन्नता है। वहाँ जो अनुचित नहीं वह यहाँ सर्वथा अयोग्य प्रतीत होता है। काशीके जिस हेमलेटके अनुवादका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं उसे पढ़नेसे यह बात भलीभाँति प्रकट हो जाती है कि लेखक उसमें हेमलेटकी माताको विधवा-विवाहके दोषसे विमुक्त करना चाहता है। फल उसका यह हुआ है कि उसमें एक बहुत बड़ा सामाजिक दोष आगया है। उससे वह और भी पतित हो गई है। देखें, कब हमें हिन्दीमें शेक्सपियरके नाटक अच्छे रूपमें देखनेको मिलते हैं।

हास्य-रसात्मक-ग्रन्थ—हिन्दू-साहित्यके शास्त्रकारोंने नव-रसोंमें हास्य-रसकी गणना की है। परन्तु नाटकोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी हास्यकी छटा नहीं दिखाई देती। हिन्दी-साहित्यमें हास्य-रसके तीन आचार्योंके ग्रन्थ विद्यमान हैं, मालियर, द्विजेन्द्रलालराय और बङ्किमचन्द्र। द्विजेन्द्रलाल रायने एक जगह लिखा है, हास्यरसमें भी कई भेद हैं। मतवालोंके अर्थहीन प्रलापोंसे भी हँसी आती है। परन्तु वह निम्न श्रेणीका हास्य-रस है। प्रकृति हास्य-रस मनुष्योंका मानसिक दौर्बल्य है उसमें असङ्गति दिखलानेसे हास्यरस होता है, उसीके प्रति आक्रोश करनेसे व्यङ्ग्यकी सृष्टि होती है और उससे सहानुभूति प्रकट करनेसे मृदु परिहासकी सृष्टि होती है। आपकी राय है

कि मालियरकी कृतिमें मृदु परिहास है। मालियरके सिर्फ एक ही नाटकका अनुवाद प्रकाशित हुआ है। वह है ठोंक पीट कर वैद्यराज। इनके एक दूसरे नाटकका भी अनुवाद हो गया है उसका हिन्दी नाम है 'राव बहादुर'। परन्तु कदाचित् वह अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। हास्यरसकी अवतारणा करना सरल नहीं है। हिन्दीके दो एक लेखक ऊट-पटाङ्ग और अश्लील बातें लिखकर हास्य-रसके आचार्य बन गये हैं। उन्हें बर्नार्ड शाके नाटकोंका पाठ करना चाहिए। शा के नाटकोंमें एक ओर हास्य-छटा है तो दूसरी ओर एक आश्चर्यजनक गाम्भीर्य है। नाटकके अन्तर्गत भावोंमें प्रवेश करनेसे मालूम होता है कि शा की हँसी कैसी कठोर होती है, हँसीके भीतर सत्यकी तीव्र भावना किस तरह छिपी रहती है। द्विजेन्द्रलाल रायकी हँसीमें भी सत्यका कलेवर बिलकुल स्पष्ट है। उनके हँसी-मज़ाकके गानोंमें कहीं कहीं विकृत वङ्गीय-समाजकी क्रन्दन-ध्वनि सुनाई देती है। द्विजेन्द्रलाल रायके दो प्रहसन भी हिन्दीमें प्रकाशित हो चुके हैं। गङ्गा पुस्तक-मालाने मूर्ख-मण्डली नामक प्रहसनका प्रकाशन किया हैं।

जीवन-चरित्र—रस्किनने एक जगह लिखा है कि पुस्तकोंकी दो श्रेणियां की जा सकती हैं। पहली श्रेणीमें उन पुस्तकोंकी गणना होती है जो सामयिक कही जा सकती हैं। दूसरी श्रेणीकी पुस्तकोंकी गणना स्थायी साहित्यमें की जा सकती है। जीवन-चरित्रकी एक विशेषता यह है कि विषय

सामयिक होनेपर भी वह स्थायी साहित्यमें आ सकता है और विषय स्थायी होनेपर भी वह क्षणिक हो सकता है। वेलिंगटन-का नाम इतिहासमें अमर है। परन्तु अँगरेज़ीमें उसका कोई भी स्थायी चरित्र नहीं है। इसके विपरीत स्टर्लिंग (Sterling) का नाम कोई जाने अथवा न जाने, पर कारलाइलका लिखा हुआ स्टर्लिंगका जीवन-चरित्र अक्षय है। हिन्दीमें अस्थायी जीवन-चरित्रोंकी धूम है। पण्डित नन्दकुमारदेव शर्माने दो एक अच्छे जीवन चरित्र लिखे हैं।

लखनऊकी गङ्गा-पुस्तक-मालामें भी दो पठनीय, किन्तु अस्थायी चरित्र प्रकाशित हुए हैं। एक तो है बङ्किम बाबूका जीवन-चरित्र और दूसरा है केशवचन्द्रसेनका। ये ग्रन्थ मौलिक नहीं हैं और न किसी एक ग्रन्थके अनुवाद हैं। लेखकोंने कई ग्रन्थोंके आधारपर इनकी रचना की है। दोनों ग्रन्थ पढ़ने योग्य हैं। पर एक बात हमें कहनी है। बङ्किम बाबू साहित्य-सेवी थे और केशवचन्द्रसेन थे धर्म-प्रचारक। यदि इनके जीवन-चरित्र लिखनेमें लेखक इनकी साहित्य-सेवा और धर्म-प्रचारपर विशेष लक्ष्य रखते तो बड़ा अच्छा होता। केशवचन्द्रसेनने जिन सिद्धान्तोंके प्रचारमे अपना जीवन व्यतीत किया उनके विषयमें एक भी बात नहीं लिखी गई है। इसी प्रकार बङ्किम बाबूके जीवन-चरित्रमें उनके ग्रन्थोंकी विस्तृत आलोचना होनी चाहिए। अँगरेज़ीमें Men of Letters नामक-ग्रन्थ मालामें साहित्य-सेवियोंके जैसे जीवन-चरित्र निकलते हैं। वैसे ही ग्रन्थ

हिन्दीमें क्यों न निकलें। लेखकको अपने नायकके गुण-दोषोंकी अच्छी तरह विवेचना करनी चाहिए।

समालोचना—समालोचना साहित्यका एक आवश्यक अङ्ग मानी गई है। हिन्दी-साहित्यको समुन्नत करनेकी इच्छा रखनेवाले कुछ विद्वानोंका ध्यान इस आवश्यक अङ्गकी पूर्तिकी ओर आकृष्ट हुआ है। वे चाहते हैं कि अब हिन्दीमें अच्छी आलोचना होने लगे। कुछ वर्ष पहले इसी उद्देशसे हिन्दीमें एक समालोचक नामका पत्र निकाला भी गया था। परन्तु वह चला नहीं। उसकी अकाल-मृत्यु हो गई। अब हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनमें भी यही प्रस्ताव उठाया गया है। यदि इन विद्वानोंके प्रयत्नसे हिन्दीमें सत्समालोचना होने लगे तो बड़ी बात हो।

परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि समालोचना कल्प-वृक्ष नहीं है। उससे हमें बड़ी बड़ी आशायें नहीं रखनी चाहिए। कुछ विद्वानोंकी राय है कि समालोचनासे हिन्दीमें अण्डबण्ड पुस्तकोंका प्रचार बन्द हो जायगा और सत्साहित्यका निर्माण होने लगेगा। आज-कल हिन्दीके जो लेखक अर्थका अनर्थ कर डालते हैं उनकी भी गति अवरुद्ध हो जायगी। हिन्दीमें सुरुचि फैलेगी और प्रतिभाशाली लेखकोंको प्रोत्साहन मिलेगा जिससे यह सम्भव है कि कुछ ही समयमें हिन्दीमें अच्छे अच्छे ग्रन्थ निकलने लगें। समालोचनासे यह आशा रखना दुराशा-मात्र है। समालोचनासे न तो किसी देशमें सत्साहित्यका निर्माण हुआ है और न बुरी पुस्तकोंका प्रचार रुका है। अँगरेजी-साहित्य तो खूब समुन्नत है। उसमें तो सत्समालोचकोंका

अभाव नहीं है। पर इससे क्या वहाँ गन्दे उपन्यासोंका प्रचार नहीं है? यदि समालोचनासे लोगोंमें सुरुचि फैल जाती तो अँगरेज़ीमें गन्दे उपन्यास निकलते भी नहीं। सभी लोग जेवमें शेक्सपियर रखकर घूमा करते। समालोचकोंसे अच्छे लेखकोंको प्रोत्साहन तो कम मिला है, निन्दा अधिक मिली है। अँगरेज़ीके प्रसिद्ध कवि कालरिज और वर्डस्वर्थकी तो दुर्दशा हुई थी। पर इन समालोचनाओंसे उनका न कुछ बना और न बिगड़ा। यदि यह कहा जाय कि वे सत्समालोचक नहीं थे तो फिर समालोचकोंकी समालोचनाओंका निर्णय करनेके लिए भी समालोचकोंका दूसरा दल होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि जिनमें गुण-दोषकी विवेचना-शक्ति है उनकी भी क्या एक ही राय होती है? गेटीने शेक्सपियरकी प्रशंसा की है और टालस्टायने उसकी निन्दा। एक उसे श्रेष्ठ नाटककार समझता तो दूसरा उसे नाटककार तक माननेके लिए तैयार नहीं। दोनों साहित्यके दिग्गज हैं। बात यह है कि समालोचनाकी शक्ति परिमित है। इत्रकी तरह वह कभी कभी समाजकी शोभा बढ़ानेके लिए व्यवहृत होती है। उससे साहित्यकी पिपासा कभी शान्त नहीं हुई। पर हिन्दीके विद्वानोंने अभी खाद्य-वस्तुओंका तो संग्रह किया नहीं है, इत्रके लिए व्यग्र हो उठे हैं। जङ्गल अभी तैयार नहीं हुआ है तो भी लोग ऐसे कुठारकी खोजमें पड़े हुए हैं जो जङ्गलको साफ़ कर दे। हिन्दीमें न तो विज्ञान है, न इतिहास है, न जीवन-चरित्र है, न अर्थ-शास्त्र है, न दर्शन-शास्त्र

है, न उपन्यास है और न नाटक ही है। जो कुछ है वह उसका प्राचीन काव्य-साहित्य है। उसीकी समालोचना हो सकती है और उसीकी समालोचनाकी ज़रूरत है भी। यदि हिन्दीके विद्वान् इस काव्य-सागरका मन्थन कर उसका सुधा-रस हिन्दी भाषा-भाषियोंको पिलावें तो उनका बड़ा उपकार हो। मिश्र-बन्धुओंने ऐसी आलोचनाका प्रारम्भ कर दिया है। हमें आशा है कि हिन्दीके दूसरे विद्वान् भी उनका अनुसरण करेंगे।

उपन्यास—हिन्दी-साहित्यमें उपन्यासोंके तीन युग व्यतीत हो चुके हैं। पहले युगमें काशीके उपन्यासोंकी धूम थी। दूसरे युगमें कलकत्ताके उपन्यासोंका प्रचार हुआ। तीसरे युगमें बम्बईके उपन्यासोंकी अच्छी चर्चा हुई। इसका मतलब यह नहीं है कि जब काशीमें उपन्यासोंकी रचना हो रही थी तब बम्बईसे कोई उपन्यास प्रकाशित हुआ ही नहीं। सच पूछा जाय तो हिन्दीके अधिकांश उपन्यासोंके प्रकाशनका श्रेय इन्हीं तीन नगरोंको है। जबसे हिन्दीके वर्तमान साहित्यका उद्भव हुआ है तबसे आजतक हिन्दी-साहित्यकी श्रीवृद्धि इन्ही तीन नगरोंमें हुई है। हमने केवल अपनी सुविधाके लिए हिन्दीके औपन्यासिक साहित्यको तीन युगोंमें विभक्त किया है। इन तीनों युगोंमें सदृशता है और विभिन्नता है। सदृशता है अँगरेजी उपन्यासोंकी शैलीमें। काशीके उपन्यासकारोंमें बाबू देवकीनन्दन खत्री और पण्डित किशोरीलाल गोस्वामीके नाम खूब प्रसिद्ध हैं। कलकत्तेके उपन्यासोंमें अधिकांश बँगला उपन्यासोंके अनुवाद हैं।

बम्बईमें लज्जारामजीकी रचनायें प्रसिद्ध हैं। इसके सिवा बँगला-के कई अच्छे अच्छे उपन्यासोंके अनुवाद भी वहींसे प्रकाशित हुए हैं। हिन्दीमें बंगलाके अनेक प्रसिद्ध उपन्यासोंके अनुवाद हो चुके हैं। रमेश बाबू, बङ्किम बाबू, रवीन्द्र बाबू और शरत बाबूके ग्रन्थ आदरणीय हैं। अब हम हिन्दीके अँगरेज़ी उप-न्यासोंपर विचार करना चाहते हैं।

हिन्दीमें अँगरेजीके निम्नलिखित उपन्यासकारोंके ग्रन्थ विद्यमान हैं:—(१) रेनाल्ड (२) कनन डायल (३) मेरी कुरेली (४) कालिन्स (५) गोल्डस्मिथ (६) शेरीडन (७) विकृर ह्यूगो (८) डूमा (६) जार्ज ईलियट (१०) हेगर्ड और (११) स्विफ़्ट। अभी हालमें प्रेमचन्दजीने अनाटो फ़्रान्सके एक उप-न्यासका अनुवाद किया है। इनमें ह्यूगो और डूमा इंग्लेंडके लेखक नहीं हैं। इनके सिवा अँगरेज़ीकी दो दो आनेमें बिकने-वाली पचीसों: किताबें हिन्दीमें अज्ञात रूपसे विद्यमान हैं। कलकत्तेके जासूसी उपन्यासोंमें ऐसे ही ग्रन्थोंकी भरमार है।

हिन्दीके अधिकांश लेखक अँगरेज़ी उपन्यासोंको हिन्दू-स-माजके अनुकूल बना डालते हैं। हम इसे बुरा नहीं समझते, पर है यह काम टेढ़ा। यदि इस काममें हम ज़रा भी चूके तो उपन्यासका रूप बड़ा विकृत हो जाता है। The woman in white नामक अँगरेज़ी उपन्यासका अनुवाद हिन्दीमें है। उसका नाम है शुक्लवसना सुन्दरी। उसमें अनुवादकने बड़ी सफलतासे अँगरेज़ी समाजको ब्राह्मसमाजमें परिणत कर दिया है। एक

दूसरा उपन्यास है प्रेमकान्त। यह गोल्डस्मिथके विकार आव् वेकफ़ील्डका रूपान्तर है। इसमें अनुवादकको सफलता नहीं हुई है। परिच्छद भारतीय होनेसे क्या हुआ, आत्मा:तो अँगरेज़ी ही है। मेरी कुरेलीकी इन्नोसेन्ट भी 'हृदयकी परख' नामक उपन्यासमें 'सरला' के रूपमें अनुकूल नहीं जँचती। चित्रकारके साथ सरलाका कोर्टशिप-तो बहुत ही भद्दा है। जार्ज इलियटका सिलास मार्नर प्रेमचन्द्रजीके सुखदेवके रूपमें भी अच्छा है। कनन डायलके शर्लाक होम्स गोपालरामजीके गोविन्दराम बन गये हैं और अच्छे बन गये हैं। बात यह है कि जिन अँगरेजी उपन्यासोंमें अतिरञ्जित घटनाओंकी ही प्रधानता है उनमें तो अनुवादकको सफलता हुई है, पर जिन उपन्यासोंमे कथाका गौरव समाजके आदर्शपर स्थित है उनके अनुवाद भद्दे होगये हैं। किसी भी देशके आदर्शोको समझनेके लिए पाठकको उदार-हृदय होना चाहिए। हिन्दू-समाजकी दृष्टिमें विधवा विवाह गर्हित है और बहुपत्नी-विवाह दूषित नहीं है। पर अँगरेजी समाजका आदर्श इसके बिलकुल विपरीत है। अतएव जो अनुवादक अँगरेज़ी उपन्यासों को भारतीय समाजके आदर्शके अनुकूल बनाना चाहते हैं उनकी चेष्टा विफल होनी ही चाहिए।

हिन्दीमें अभीतक जितने अँगरेजी उपन्यासके अनुवाद हुए हैं उनमें अधिकांशकी शोभा अँगरेज़ी साहित्यमें हो तो भले ही हो, पर हिन्दीमें तो उनकी ज़रूरत है ही नहीं। जो दो चार

अच्छे ग्रन्थोंके अनुवाद हुए हैं उनके भी अनुवादकोंने अपनी योग्यताका अच्छा परिचय नहीं दिया। यदि ऐसी पुस्तकोंका प्रचार हैं तो उससे यही सूचित होता है कि अभी समाजकी रुचि परिमार्जित नहीं हुई है। हमें स्मरण है कि एकबार किसी विद्वान् लेखकने इसी लोक-रुचिके बलपर यह लिखा था कि लोकप्रियता किसी ग्रन्थकी उत्तमताकी कसौटी है। हम नहीं समझते कि हिन्दीके लेखकोंने अभी लोक-रुचिको इतना परिमार्जित कर दिया है कि वे अपनी लोक-प्रियताका गर्व कर सकें। अभी हिन्दीमें ऐसे लेखकोंका अभाव नहीं है जो अँगरेज़ोंकी भ्रष्ट किताबोंका अनुवाद न करते हों। उनके लेखक-पद प्राप्त करनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि अभी हिन्दीमें लोक-प्रियता सफलताका चिह्न नहीं है।

जो लोग हिन्दीमें अँगरेज़ी उपन्यासोंका अनुवाद कर रहे हैं उन्हें एक बार समाजकी आवश्यकतापर ध्यान देना चाहिए। अनुवादोंसे लाभ अवश्य है। उपन्यासोंके भी अनुवाद अनावश्यक नहीं हैं। अँगरेज़ीमें संसारके सभी श्रेष्ठ उपन्यासकारोंके ग्रन्थ विद्यमान हैं। हिन्दीके अनुवादकोंको भी केवल ऐसे ही ग्रन्थोंका अनुवाद करना चाहिए जिनसे हिन्दी-साहित्यकी सचमुच श्री-वृद्धि हो।

सभी देशोंके साहित्यमें जातीय गौरवकी रक्षा की जाती है। सभी मनुष्योंको अपनी जातिका अभिमान होता है। यही कारण है कि अपने जातीय गौरवकी रक्षाके लिए, समय आने-

पर, साधारण मनुष्यभी आत्म-त्याग कर सकता है। कभी कभी लोग जातीय अभिमानसे प्रेरित होकर प्राण तक देना स्वीकार करते हैं, पर वे अपनी जातिको किसी प्रकार अपमानित होते नहीं देख सकते हैं। अँगरेजीके एक कविने एक छोटी सी कहानी लिखी है। उसमें एक अँगरेज़ सैनिकका जातीय अभिमान प्रदर्शित हुआ है। उस कहानीके विषयमें कहा गया है कि वह एक सच्ची घटनाके आधारपर लिखी गई है। कहानीका सारांश है यह कि एक बार चीनमें एक अँगरेज तीन सिक्खोंके साथ कहीं गुल गपाड़ा करता हुआ पकड़ा गया। जब वे चारों किसी चीनी अफ़सरके सामने लाये गये तब उस अफ़सरने कहा—तुम लोग मुझे झुक कर सलाम करो, नहीं तो मार डाले जाओगे। तीनों सिक्खोंने सलाम कर अपनी प्राण रक्षा की। पर उस अँगरेज़ने स्वीकार नहीं किया। अन्तमें वह मार डाला गया। इसी घटनाको लेकर अँगरेज़ी कविने अँगरेजोंके जातीय अभिमानकी प्रशंसा की है और काले सिक्खोंकी कायरताकी ओर इशारा किया है। सिक्ख जातिके इतिहासमें ऐसी घटनाओंका अभाव नहीं है जिनमें सिक्खोंने सहर्ष प्राण त्याग दिये हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि सिक्ख जाति प्राण देना नहीं जानती। पर जिनका हृदय क्षुद्र होता है वे जातीय अभिमानके कारण दूसरोंमें गुण देख ही नहीं सकते। ऐसे लोगोंकी रचनाओंमें विदेशी जातियोंका घृणास्पद चित्र अङ्कित रहता है। साहित्यमें धार्मिक असहि-

ष्णुताकी भी अभिव्यक्ति होती है। शेक्सपियरके समान श्रेष्ठ कवि भी इस दोषसे बचे नहीं हैं। शायलाकको उन्होंने इतना लोभी बनाया है कि वह अपनी एक-मात्र कन्याका मृत शरीर देखना चाहता था जिससे वह अपना रुपया पा सके। सर वाल्टर स्काटने अपने आइवनहो नामक उपन्यासमें भी एक यहूदीका चित्र अङ्कित किया है। यद्यपि उसमें धन-लिप्सा अत्यधिक थी तो भी वह पितृ-स्नेहसे शून्य नहीं था। अँगरेज़ी-साहित्यमें भारतीयोंके प्रति घृणाव्यञ्जक-भाव विद्यमान हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्यमें भी विदेशियोंके प्रति घृणा प्रदर्शित की जाती है। यहाँ हम उसीकी ओर अपने पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

हिन्दीके उपन्यासोंमें अकबरकी चरित्र-हीनताकी कथायें मिलती हैं। इसका सबसे बड़ा कारण टाड साहबका राजस्थानका इतिहास है। परन्तु सिर्फ़ अकबर ही चरित्रहीन दर्शित नहीं किये गये हैं, औरङ्गज़ेब भी कामुक और विलासी बनाये गये हैं। जिस प्रकार क्रोधके लिए दुर्वासा ऋषि प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार अपनी क्रूरताके लिए औरङ्गज़ेब। ये तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। कुछ समय पहले जो सामाजिक उपन्यास निकले हैं उनमें शायद ही कोई सच्चरित्र मुसलमान हो। हिन्दू-ललनाओंकी सतीत्व-रक्षाके लिए हिन्दी-लेखक जितने सावधान थे उतने मुसलमान-स्त्रियोंके विषयमें नहीं थे। अजकल जो छोटी छोटी कहानियाँ प्रकाशित होती हैं उनमें अवश्य सच्चरित्र

मुसलमानोंका अभाव नहीं है। परन्तु हिन्दीमें कदाचित् अभी तक एक भी ऐसा उपन्यास प्रकाशित नहीं हुआ जिसमें किसी अँगरेज़का आदर्श चरित्र दिखलाया गया हो। यदि कभी किसी लेखककी इच्छा किसी अँगरेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयका चरित्र-भ्रष्ट करनेकी हुई तो वह एक अँगरेज़-महिलाकी कल्पना कर लेता है। धार्मिक विद्वेषके उदाहरण भी हिन्दी-साहित्यमें कम नहीं हैं। इसके सिवा अशिक्षा अथवा कुशिक्षाके परिणाम भी बुरी तरहसे दिखाये जाते हैं। ये सभी उपन्यास शिक्षा-दायक कहे जाते हैं और इनके प्रशंसकोंका भी अभाव नहीं है। इनमेंसे कोई कोई अपनी प्रशंसामें देश और कालकी दुहाई देते हैं। परन्तु सच पूछो तो इन रचनाओंसे लेखकोंकी विकार-ग्रस्त कल्पनाका आभास मिलता है। इनसे शिक्षा तो मिलती नहीं, मिथ्या ज्ञानका प्रचार होता है। इससे केवल द्वेष-भावकी वृद्धि होती है।

उपन्यास चाहे ऐतिहासिक हों अथवा सामाजिक, पौराणिक हों अथवा राजनैतिक, उनमें कल्पनाकी प्रधानता रहती है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक व्यक्ति लेखककी कल्पनामें अपना यथार्थ स्वरूप नहीं रख सकते। अतएव यदि उनके चरित्र-चित्रणमें कहीं दोष है तो वह लेखककी कल्पनाका दोष है। यदि लेखकको अपने उत्तरदायित्वका पूरा ज्ञान है तो वह अपने उपन्यासके प्रत्येक पात्रके जीवनकी समीक्षा करेगा। उसे स्मरण रखना चाहिए कि उसके पात्र मनुष्य हैं। वे न तो

देवता हैं और न पिशाच। यदि उनका चरित्र देव-तुल्य अथवा पिशाच-तुल्य है तो उसे बतलाना होगा कि वह किस स्थितिको अतिक्रमणकर उस अवस्थाको पहुँचा है। लेखकको स्मरण रखना चाहिए कि गोपाल अथवा हेनरी सिर्फ़ हिन्दू या अँगरेज़ नहीं हैं, वे मनुष्य भी हैं। शायलाककी तरह वे भी कह सकते हैं—'हमें काटोगे तो हमें भी दुःख होगा। हँसाओगे तो हम भी हँसेंगे। हम भी इच्छा करते हैं, उठते हैं, गिरते हैं। हममें भी गुण और अवगुण हैं। यदि हम बुरे हैं तो किसी कारणसे बुरे हैं। हे लेखक, तुम हमारे भाग्य-विधाता बने हो, पर याद रक्खो कि यदि तुम हमारी स्थितिमें रहो तो तुम भी बुरे हो सकते हो। अतएव तुम्हें हमारे साथ सहानुभूति रखनी चाहिए। हम जानना चाहते हैं कि हिन्दीके कितने औपन्यासिक अपने कल्पित पात्रोंको मनुष्य समझते हैं, उन्हें सिर्फ़ कल्पनाकी सृष्टि नहीं समझते।

हिन्दीके नाटकोंके विषयमें पण्डित कामताप्रसादजी गुरुने एक प्रश्न उठाया था। वह था नाटकीय पात्रोंकी भाषा। हिन्दी-नाटकोंके विदेशी पात्र एक अद्भुत भाषामें बातचीत करते हैं। कदाचित् लेखक अपने नाटकोंमें स्वाभाविकता लानेके लिए ऐसा करते हों। यदि स्वाभाविकताका मतलब यह है कि पात्र जो भाषा संसारमें बोलते हैं या बोलते थे उसी भाषाका उपयोग रङ्गभूमिमें करें तो लेखक राम, सीता, राधा और कृष्णसे हिन्दी-भाषामें बातचीत क्यों कराते हैं। हम

नाटकोंमें कितनी बातोंको लेखकके कथन-मात्रपर मान लेते हैं। हम यह भी विश्वास कर सकते हैं कि एक बङ्गाली शुद्ध हिन्दी बोल सकता है। तब ऊटपटाङ्ग भाषामें किसीको बात-चीत करानेसे क्या लाभ? क्या इसीसे हास्य-रसका स्रोत फूट पड़ता है? हमारी समझमें तो इससे केवल पात्रका चरित्र उपहास-जनक हो जाता है। यदि अँगरेज़ी साहित्यमें बाबू इंग्लिशको स्थान मिलता है तो वह केवल बाबुओंकी दिल्लगी उड़ानेके लिए। क्या इससे अनुदारता सूचित नहीं होती?

साहित्यमे जातीय अभिमानको जाग्रत रखनेके लिए हम अपने जातीय गौरवका यशोगान कर सकते हैं। परन्तु हमें मिथ्या गर्व नहीं करना चाहिए। हमें हिन्दू-ललनाओंके सतीत्व-का गर्व है। परन्तु सामाजिक कुसंस्कारके कारण यदि उनके चरित्रमें कुछ दोष आ गये हैं तो उनकी ओरसे हमें अपनी आँख बन्द नहीं कर लेनी चाहिए। हमें अपने गुण-दोषोंकी परीक्षा करनी चाहिए। इसके साथ ही हमें विदेशीके भी गुण-दोष-पर दृष्टि डालनी चाहिए। एक विकृत समाजकी कल्पनाकर हमें अपने हृदयको दूषित नहीं करना चाहिए।

कहा जाता है कि सत्यका ही रूप स्पष्ट करनेके लिए साहित्यकी सृष्टि होती है। काव्य, विज्ञान, इतिहास तथा दर्शन-शास्त्र सत्यकी ही खोजमें लगे रहते हैं। यह सच है कि भिन्न भिन्न शास्त्र भिन्न भिन्न पथोंका अवलम्बन करते हैं। यही कारण है कि इन शास्त्रोंके कार्य-क्षेत्रोंमें भिन्नता रहती है।

काव्यमें कभी कभी इतिहासके विरुद्ध बातें पाई जाती हैं। परन्तु इसका कारण उद्देशकी भिन्नता है। ऐतिहासिक तथ्यकी ओर कवि भले ही ध्यान न दे क्योंकि वह सर्वकालीन सत्यकी खोज करता है, परन्तु वह अपने काव्यमें मिथ्याको आश्रय नहीं देगा। जो लोग उपन्यास तथा आख्यायिकाओंको कल्पना-प्रसूत समझकर मिथ्या मान लेते हैं वे भूलमें हैं। उपन्यासमें कवि अवश्य एक कल्पित समाजका चित्र खींचता है, परन्तु उस चित्रकी सभी बातें ऐसी होती हैं कि वे मनुष्य-मात्रमें घट सकती हैं। अतएव वह मिथ्या नहीं। सहस्ररजनीचरित्रके समान तूल-तवील क़िस्सोंमें अलौकिक और अतिरञ्जित बातोंका जमघट रहता है। परन्तु उनके भी भीतर हम मनुष्यत्वका सच्चा स्वरूप देख सकते हैं। विज्ञान इतिहास नहीं। विज्ञानमें मनुष्य-समाजका वर्णन नहीं रहता, उसमें प्राकृतिक अनन्त सत्योंका दिग्दर्शन कराया जाता है। अतएव यदि कोई विज्ञान-में ऐतिहासिक तत्त्वोंका अभाव देखकर उन्हें मिथ्या कह बैठे तो उसकी बात उपेक्षणीय ही होगी। हमारे कहनेका मतलब यह है कि यदि हम किसीकी कृतिमें सत्यका स्वरूप देखना चाहें तो हमें उस ग्रन्थके ध्येयका अनुगमन करना चाहिए।

प्रायः उपन्यासोंमें सत्यका बहिष्कार किया जाता है। औपन्यासिक घटनायें कल्पित अवश्य होती हैं, परन्तु वे प्राकृतिक नियमोंका व्यतिक्रमण नहीं कर जातीं। हिन्दीके सामाजिक उपन्यासोंमें मनुष्यके मनुष्यत्वका विकास प्रदर्शित नहीं किया

जाता। उपन्यास-लेखक अपनी इच्छाके अनुकूल ही अपने पात्रोंको कठपुतलियोंके समान नचाया करते हैं कि पाठक चुप-चाप उनके पात्रोंका नृत्यकौशल देखा करें। इससे उपन्यासमें मिथ्याको प्रश्रय मिलता है। हिन्दी-उपन्यासोंके पात्र सह्य और असह्य सभी प्रकारके कष्ट सह सकते हैं। संसारमें सज्जनोंपर विधाताकी सदैव अनुकूल दृष्टि नहीं रहती। पर इन पत्रोंके भाग्य विधाता उनकी स्थितिको अनुकूल ही कर देते हैं। यदि कोई उपन्यास दु:खान्त हुआ है तो उसका कारण स्थितिकी प्रतिकूलता नहीं, किन्तु पात्रोंका दुर्भाग्य समझना चाहिए। स्वर्गीय बाबू देवकीनन्दनके समान कितने ही लोग अपने एक ही उपन्यासको सुखान्त और दु:खान्त दोनों कर डालते हैं! आपका कहना भी था कि जो दु:खान्तके प्रेमी हैं वे ग्रन्थके अन्तिम दो पृष्ठ फाड डालें। सुखान्त दु:खान्त हो जायगा। विधाताके विधानका फैसला दो ही पृष्ठोंमें कर दिया गया। हिन्दू-मात्र पूर्व जन्मपर विश्वास करते हैं। उनका ख़याल है कि विधाता निरङ्कुश नहीं है, मनुष्य अपने ही कृत्योंका फल भोगता है। पर हिन्दीके उपन्यासकार इसके क़ायल नहीं। एक ही कृत्यके लिए वे चाहें तो किसीको स्वर्ग दे सकते हैं या नरक मे ढकेल सकते हैं। मानव-स्वभावकी गरिमाका ज़रा भी ख़याल न रख किसीके चरित्रको कालुष्यपूर्ण बताकर उसपर पूरा अत्याचार किया जाता है। चरित्रका उत्थान और पतन बिलकुल साधारण बात है। यही हिन्दीके उपन्यासोंका मिथ्या अंश है।

हिन्दीमें अभी ऐतिहासिक ग्रन्थोंका एक प्रकारसे अभाव ही है। जो दो चार ग्रन्थ हैं उनमें लेखक अपनी धारणा और संस्कारके कारण सत्यका अनुसरण नहीं कर सके हैं। इतिहासमें लेखकको ज़रा भी पक्षपात नहीं करना चाहिए। उसमें सहानुभूति होनी चाहिए। जिनका हृदय बिलकुल स्वच्छ रहेगा वही इतिहासका स्वच्छ स्वरूप देख सकेंगे। अभी तो इतिहासमें भी सत्यका बहिष्कार किया जाता है।

उपसंहार

हिन्दी-साहित्यकी वर्तमान स्थितिपर एक विद्वान्‌ने कहा था—

आधुनिक हिन्दी-साहित्यका कलेवर उतना उन्नतिशील और पुष्ट नहीं जितना बङ्गाली तथा मराठी-साहित्य पाया जाता है। ये भाषायें हिन्दीसे कई क़दम आगे बढ़ी हुई हैं और वर्तमान हिन्दी-साहित्यमें जितने नये और उत्तम ग्रन्थ देखनेमें आते हैं वे अधिकांशमें या तो बङ्गाली तथा मराठी ग्रन्थोंके अनुवाद हैं या उनके आधारपर लिखे गये हैं। अनुवादोंकी आवश्यकता जरूर है, किन्तु इतना ही किसी भाषाके लिए गौरव और सन्तोषका विषय कदापि नहीं हो सकता।

"हिन्दीमें जो कुछ उत्तम साहित्यके नामसे भूषित होनेके योग्य है वह सब प्राचीन है। नये साहित्यके नामपर इसमें केवल अनुवादों और छायानुवादोंकी भरमार है। हरिश्चन्द्रके बाद हिन्दी-संसारमें फिर दूसरे हरिश्चन्द्रका जन्म आजतक नहीं हुआ। माइकेल मधुसूदनके बाद द्विजेन्द्रलाल तथा रवीन्द्र-नाथका जन्म हो चुका, किन्तु प्रतीत होता है कि हिन्दीके लिए तुलसी और सूरदासका काल सदाके लिए अतीतके गर्भमें लुप्त हो गया। हिन्दी-साहित्य सेवियोंमें मुझे एक भी ऐसे सज्जनका नाम मालूम नहीं है जो कविकी पदवीको सार्थक कर सकता हो। उच्च कोटिके उपन्यास-लेखकोंका भी खेदजनक अभाव

है। नाटकके नामसे हिन्दीका अङ्ग सूना पड़ा हुआ है। इतिहास, विज्ञान तथा राजनैतिक ग्रन्थोंकी चर्चा करना ही व्यर्थ है। कदाचित् ये विषय ही हिन्दी-साहित्य को अज्ञात हैं। इस सन्तापजनक अभावका एक-मात्र कारण केवल इतना ही है कि हिन्दीमें प्रौढ़ लेखकोंकी कमी है। जिन लोगोंको ऊँचीसे ऊँची शिक्षा मिली है, अर्थात् जिनके विचार प्रौढ़ हैं, वे प्रायः हिन्दीसे उदासीन तथा विरक्तसे दिखाई देते हैं। मिथ्याभिमान तथा नासमझीके वशवर्ती होकर ऐसे लोगोंने अपनी मातृभाषाके स्थानपर प्रायः अँगरेज़ीको ही आसीन कर दिया है।

इस कथनमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। हिन्दी-साहित्यके अभावोंकी ओर उसके सभी शुभचिन्तकोंका ध्यान गया है; परन्तु प्रश्न यह है कि इन अभावोंकी पूर्ति किस प्रकार हो सकती है। वर्तमान राजनैतिक आन्दोलनका एक शुभ परिणाम यह हुआ है कि अब अँगरेज़ीदाँ भारतवासी अपनी मातृभाषाका कम अनादर करने लगे हैं। परन्तु निस्स्वार्थ भावसे सेवा करनेकी ओर अभी थोड़े ही लोगोंकी प्रवृत्ति हुई है।

हिन्दीके आधुनिक साहित्यमें मौलिकताका अभाव है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि मौलिक साहित्य उत्पन्न करनेके लिए हमें साहित्यमें उपयुक्त क्षेत्र स्थापित करना होगा। ऊपर कहा गया है कि हिन्दीके लिए अब तुलसी और सूरदासका काल अतीतके गर्भमें लुप्त हो गया। सचमुच अब उनका ज़माना लौटनेका नहीं। उन्हें जो करना था वे कर गये। अब हिन्दी-

साहित्यके प्रेमी उनका उचित आदर करना ही सीखें। अस्तु यहाँ हम एक प्रश्नपर विचार करना चाहते हैं। वह यह कि क्या कारण है कि सभी समय तुलसी और सूरदास उत्पन्न नहीं होंगे? क्या महाकवियोंकी उत्पत्ति साहित्यमें एक आकस्मिक घटना है, जो ईश्वरीय शक्तिपर निर्भर है? यदि यही बात हो तो चेष्टा करना व्यर्थ होगा।

यहाँ हम अन्य देशोंके साहित्यपर ध्यान देते हैं। हम सर्वत्र देखते हैं कि कभी तो कलाकी बड़ी उन्नति हुई है, बड़े बड़े चित्रकार और कलाकोविद हुए हैं, और कभी कलाका सर्वथा अभाव रहा है। इसका क्या कारण है? इतिहासके मर्मज्ञ विद्वानोंका कथन है कि देशके समृद्धि-कालमें कलाका विकास होता है। परन्तु इससे हमें सन्तोष नहीं होता। यदि समृद्धिसे ही कलाका सम्बन्ध है तो क्या कारण है कि देशकी समृद्धावस्थामें भी सभी समय कलाका विकास नहीं हुआ? वर्तमान युग तो योरपके लिए समृद्धि-काल है। क्या कारण है कि अब रेम्ब्रँट अथवा शेक्सपियर उत्पन्न नहीं होते? आज-कल कला-कोविदोंका आदर भी अधिक है, धन और कीर्ति दोनों उनके हाथमें हैं। तो भी अतीत युगमें जैसे कला कोविद हो गये वैसे अब क्यों नहीं होते? हमारा यह कथन है कि जब किसी शताब्दीके पहले पचास वर्षोंमें सैकड़ों कवि और कला-कोविद हुए तब उसी शताब्दीके पिछले पचास वर्षोंमें क्यों न वैसे ही कवि और चित्रकार उत्पन्न हों। जब देशकी स्थितिमें

कोई परिवर्तन नहीं हुआ, जब देश उन्नतिके पथपर बराबर अग्रसर रहा, तब कलाकी ही उन्नतिका व्यवधान कहाँसे आ-जाता है। हम तो यह कहते हैं कि पहले जैसे कवि उत्पन्न हुए पिछले समयमें भी वैसे ही कवि हुए। भेद यही है कि पूर्ववर्ती कवियोंको अपनी शक्तिको यथेष्ट विकसित करनेका अवसर मिला, किन्तु परवर्ती कवियोंकी शक्ति विकसित न हो सकी। इसका कारण क्या है? जब कोई बाह्य कारण नहीं है तब हम यही कहेंगे कि यह सर्वसाधारण की कुरुचि का परिणाम है। जब जनता बाह्य सौन्दर्य्य हीपर मुग्ध है तब कवि अपनी शक्तिको नायिकाके नख-शिख-वर्णनमें ही लगा देगा। विहारी-की कवितामें कौन ऐसी बात नहीं है जो कवित्वदृष्टि से तुलसी अथवा सूरकी रचनामें विद्यमान है। बात यही है कि तत्का-लीन समाजकी रुचि विकृत होनेके कारण कविका आदर्श उच्च न हो सका। अतएव सबसे पहले हमारा यह कर्तव्य है कि हम समाजकी रुचिको परिष्कृत करें। तभी मौलिक साहित्यके लिए उपयुक्त क्षेत्र भी तैयार होगा। यहाँ हम अनुवादोंका स्वागत करते हैं। परन्तु अनुवाद ऐसे ही ग्रन्थोंका किया जाना चाहिए जिनसे सद्भाव और सुरुचिका प्रचार हो। आधुनिक अँगरेज़ी साहित्यकी सृष्टि अनुवादोंसे ही हुई है। उन्नीसवीं शताब्दीमें ऐसा कोई भी प्रतिभाशाली लेखक नहीं हुआ है जिसने अनुवाद न किया हो। मतलब यह कि किसी भी प्रकारसे हमें जनतामें सद्विचार फैलाना चाहिए। तभी हमारे साहित्यकी उन्नति होगी।

जो विद्वान् हैं, साहित्य-शास्त्रके मर्मज्ञ हैं, जिन्हें साहित्यके गुण-दोषकी परीक्षा करनेका अधिकार है, वे यही चाहते हैं कि साहित्यमें सुरुचिका प्रचार हो। आज-कल हिन्दीमें समालोचनाकी आवश्यकतापर ज़ोर दिया जा रहा है। इससे यह स्पष्ट है कि विद्वानोंकी रायमें वर्तमान हिन्दी-साहित्यमें सुरुचिका अभाव है। इसमें सन्देह नहीं कि सामयिक साहित्य लोक-रुचिकी उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि लोक-रुचि विकृत है तो सामायिक साहित्यपर उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा सामयिक साहित्यको लोक-प्रिय होनेके लिए विकृत लोक-रुचिका भी अनुसरण करना पड़ेगा जो साहित्य लोक-रुचिके प्रतिकूल है वह लोक-प्रिय कैसे हो सकता है? इसलिए लोक-प्रियतापर जिस साहित्यका अस्तित्व निर्भर है उसके लिए यह सम्भव नहीं कि वह 'सु' और 'कु' की विवेचना करे। यदि वह देखेगा कि लोग 'सु' की अपेक्षा 'कु' की ओर झुक रहे हैं तो वह उसको ग्रहण करनेमें सङ्कोच नहीं करेगा। विचारणीय यह है कि साधारण लोग झुकते किस ओर हैं। विद्वानोंकी राय है कि साधारण लोग साहित्यमें सत् और असत्की विवेचना नहीं कर सकते। विवेचना करनेका भार विद्वानोंने अपने ऊपर लिया है। तो भी विद्वानोंकी-रुचि सदैव लोक-रुचिके अनुकूल नहीं होती। इससे यह तो प्रकट हो जाता है कि सर्व-साधारण भी विद्वानोंके विरुद्ध अपनी कोई सम्मति रखते हैं। यदि यह बात न होती तो हमें साहित्यमें

एक भी ऐसा उदाहरण न मिलता जहाँ सर्वसाधारण और विद्वानोंमें विरोध हो। सभी लोक-प्रिय ग्रन्थोंकी प्रशंसा विद्वान् नहीं करते और न विद्वानोंद्वारा प्रशंसित सभी ग्रन्थ लोक-प्रिय होते हैं। यह होनेपर भी ऐसे लोक-प्रिय ग्रन्थोका अभाव नहीं है जो विद्वानोंको भी तोष-प्रद हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि लोक प्रिय ग्रन्थ बुरे ही होते हैं। तव लोक-रुचिकी व्याख्या कैसे की जाय?

यह कहा जाता है कि भिन्न भिन्न मनुष्योंकी भिन्न भिन्न रुचि होती है। परन्तु लोक-रुचिमें सिर्फ भिन्नता नहीं, एकता भी है। एकतासे यह बात सिद्ध होती है कि सभी लोग एक निश्चित सिद्धान्तके अनुसार किसीका आदर करते हैं। यदि यह बात न होती, यदि लोक-रुचिमें सिर्फ़ भिन्नता रहती हो, तो संसारका कोई भी काम नहीं चल सकता। साहित्य अथवा कलाके क्षेत्रमे जब कोई कृति लोक-प्रिय हो जाती है तब उससे यह प्रगट हो जाता है कि साहित्यके विषयमे सर्व-साधारण किस आदर्शको स्वीकार कर रहे हैं, बुरेको बुरा समझकर कोई भी ग्रहण नहीं करता। सर्वसाधारणमें अच्छे और बुरेके जो आदर्श प्रचलित हैं उन्हींके अनुसार 'अच्छे' साहित्यका प्रचार होता है। यदि 'अच्छे' के सम्बन्धमें उनका आदर्श नीचा है तो निम्नश्रेणीका साहित्य भी लोक-प्रिय हो जाता है। लोकरुचि तभी विकृत होती है जब लोकमें मिथ्या आदर्शों का प्रचार किया जाता है। ये मिथ्या आदर्श कैसे होते हैं, इसकी विवेचना यहाँकी जाती है।

विषयकी असाधारणतासे उसकी महत्ता सूचित नहीं होती और न विषयकी महत्तासे यह सूचित होता है कि उसका प्रतिपादन भी महत्त्व-पूर्ण है। भगवान् रामचन्द्रके लोक-पावन चरित्रको आदर्श मान लेनेपर भी सभी कवि रामचरितमानसकी रचना नहीं कर सकते। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि विषयकी साधारणतासे उसकी क्षुद्रता नहीं प्रकट होती और विषय क्षुद्र होनेपर कवि उसमें अपनी शक्तिका पूर्ण विकास दिखला सकता है। कविताका विषय एक पतित मनुष्य होनेपर भी विक्टर ह्यूगोके समान श्रेष्ठ कवियोंके हाथमें लोक-पावन हो जाता है। इसका कारण है कविकी आत्मानुभूति। जिसमें अनुभूति नहीं वह श्रेष्ठ आदर्शको भी विकृत कर डालेगा। कई विद्वानोंकी यह धारणा है कि दूषित रुचिका परिचायक वह साहित्य है जिसमें समाजका दुराचार वर्णित है। परन्तु यथार्थमें दूषित रुचि उस साहित्यसे प्रकट होती है जिसमें मनुष्यत्वका विकृतरूप, उसका मिथ्या आदर्श, प्रदर्शित होता है। कहावत प्रसिद्ध है कि सद्वैद्यके हाथसे विष भी इष्ट है, परन्तु कुवैद्यके हाथसे अमृत इष्ट नहीं है। यही बात साहित्यके विषयमें भी कही जा सकती है। साहित्यमें जब आदर्शके नामसे असत्यका प्रचार किया जाता है तब उसका परिणाम अधिक भयङ्कर होता है।

साहित्यमें कलाका भी एक आदर्श होता है जो मनुष्यकी सौन्दर्य-भावनाका सूचक है। मनुष्यकी यह सौन्दर्य-भावना

निरर्थक नहीं है। यह उसके आनन्दमय स्वभावके लिए आवश्यक है। सौन्दर्य केवल बाह्येन्द्रियोंका विषय नहीं, मन और आत्माका भी विषय है। अतएव कलाके आदर्शमें हमें इसपर पूर्ण ध्यान देना चाहिए। यदि हमने कलाका एक-मात्र वही आदर्श रक्खा जो बाह्येन्द्रियोंका विषय है तो हम कलाके यथार्थ आदर्शसे च्युत हो गये। मिथ्या कल्पनासे बाह्येन्द्रियों-की तृप्ति भले ही हो, पर मन और आत्माकी तृप्ति नहीं हो सकती। ऐसी कल्पनाओंसे बाह्येन्द्रियोंको भी क्षणिक ही तृप्ति होती है। ऐसी कल्पनाको कोई भी कलाका श्रेष्ठ आदर्श नहीं कहेगा। परन्तु एक कल्पना ऐसी भी है जिसे कलाका श्रेष्ठ आदर्श न माननेके लिए साहस चाहिए। वह है कविकी मिथ्या अनुभूतिकी कल्पना। जगत्‌में सौन्दर्य है, पर यह सौन्दर्य उसीके लिए है जो उसका अनुभव करना चाहेगा। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो सौन्दर्यके विषयमें पहले हीसे एक साँचा बनाये रखते हैं। जब वे कहीं कुछ देखते हैं तब वे उसमें सौ-न्दर्य नहीं देखना चाहते; वे सिर्फ़ यही देखना चाहते हैं कि वह रूप किस प्रकार बदला जाय, जिससे वह उनके साँचेमें आ सके। हिन्दी-साहित्यकी 'नायिकायें' उसी साँचेके रूप हैं। वे भारतीय ललनाओंकी जीती-जागती मूर्तियाँ नहीं हैं। वे उनके मिथ्यारूप हैं। हिन्दीमें आज-कल ये साँचे तोड़े जा रहे हैं, परन्तु साँचोंको तोड़ देनेसे ही श्रेष्ठ मूर्ति सामने खड़ी नहीं हो जाती। तोड़नेका काम तो जारी है, परन्तु मूर्ति अभी

बनी नहीं है। इसीलिए हिन्दीके कुछ समालोचकोंको बड़ा दुःख हो रहा है। वे इसका बदला लेना चाहते हैं। परन्तु हिन्दी-में सत्साहित्यकी वृद्धि तभी हो सकती है जब सर्व-साधारणमें सत्के प्रति अधिक अनुराग उत्पन्न हो। इसके लिए उन्हें सत्के सम्बन्धमें शिक्षा देनी होगी।

आज-कल सभी देशोंमें ग्रन्थोंकी खूब वृद्धि हो रही है। पुस्तक-रचनाका मुख्य उद्देश तो यह है कि उसके द्वारा मनुष्योंकी ज्ञान-वृद्धि हो और उनमें सद्भाव जाग्रत हों। परन्तु अधिकांश ग्रन्थ ऐसे होते हैं कि उनसे न तो ज्ञानकी वृद्धि होती है और न सद्भावका प्रचार ही होता है। यही नहीं, किन्तु उनसे असद्भावनाओंका प्रचार होता है। ऐसे ग्रन्थोंका प्रभाव समाजके लिए बड़ा ही अनिष्टकर होता है। इसीलिए बड़े बड़े विद्वान् परीक्षक उनका प्रचार रोकनेके लिए यत्नशील हैं। अधिकांश परीक्षकोंकी यही धारणा है कि आधुनिक साहित्यमें कुरुचि-पूर्ण ग्रन्थोंकी ही अधिक वृद्धि हो रही है।

साहित्यमें मलिन रचनाओंका प्रचार बन्द कर देना बड़ा कठिन काम है। अच्छी और बुरी किताबोंका निर्णय करना भी सहज नहीं है। एक विद्वान्ने लिखा है कि पत्रोंमें कुत्सित साहित्यके विषयमें चर्चा तो खूब की जाती है, परन्तु अभीतक थोड़े ही लोग यह समझ सके हैं कि सचमुच सत्साहित्य है क्या। अधिकांश लोगोंकी धारणा यह है कि कुत्सित साहित्य-में उन्हीं ग्रन्थोंका समावेश किया जाना चाहिए जिनमें प्रचलित

धर्म, समाज अथवा सदाचारके विरुद्ध बातें लिखी जाती हैं। कुछ लोग यह समझते हैं कि वही किताबें बुरी हैं जिन्हें हम किसी नवयुवक अथवा नवयुवतीके हाथमें देनेसे हिचकते हैं। हालब्रुक जानसन साहबका कथन है कि कुत्सित साहित्यके अन्तर्गत इन दोनों प्रकारके ग्रन्थोंकी गणना नहीं हो सकती। आपकी तो यह राय है कि सर्वसाधारण जिसे कुत्सित साहित्य समझते हैं वही यथार्थमें पढ़ने योग्य साहित्य है! आप कहते हैं कि बुरी किताबें यथार्थमें वे हैं जिनमें सत्यका संहार किया जाता है। जो कृत्य सचमुच कुत्सित हैं उनपर समाजकी मुहर लगाकर भव्यरूप देनेका प्रयत्न किया जाता है। जिनमें मिथ्याको इतना प्रश्रय मिलता है उन्हें लोग क्वचित् ही निन्दनीय समझते हैं। अधिकांश लोग जिन ग्रन्थोंको शिक्षादायक समझकर पढ़ते हैं उन्हींके द्वारा कुशिक्षा और मिथ्या संस्कारोंका प्रचार होता है। सत्साहित्य वह है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी उन्नतिके लिए चेष्टा करे। जो साहित्य सन्तोषकी शिक्षा देता है वह यथार्थमें अनिष्टकर है।

हिन्दीमें ही असत्यके प्रतिपादक 'शिक्षादायक' ग्रन्थोंका अभाव नहीं है। धर्मके पथको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए यदि किसी समाजको मिथ्या आदर्शों से सन्तोष होता हो तो वह यही हिन्दू-समाज है। अपने समाजकी दुरवस्थाकी ओर ध्यान न देकर और उसके प्रतिकारकी चेष्टा न कर हिन्दू ग्रन्थकार भगवती सीता और सावित्रीके पातिव्रतका स्मरण

कराकर समाजके मिथ्या धार्मिक संस्कार और अन्ध-विश्वास-की पुष्टि करते हैं। समाजकी मिथ्या धारणाके विरुद्ध भी कुछ कहना साहसका काम है। जो लोग समाजको उसका यथार्थरूप दिखलानेकी चेष्टा करते हैं उन्हें तिरस्कार और लाञ्छना सहनी पड़ती है। बात यह है कि समाज साहित्य-पर सदैव अपना प्रभुत्व रखना चाहता है। समाजका पथ सदैव निर्दिष्ट रहता है। उच्छृङ्खलता उसे सह्य नहीं है। जो व्यक्ति उसकी मर्यादाको भङ्ग करनेकी चेष्टा करता है उसे समाज कठोर दण्ड देता है। साहित्य भी उसका प्रभुत्व अक्षुण्ण रखना चाहता है। यदि किसीने समाजकी नीतिके विरुद्ध लिखा तो वह अधार्मिक समझा जाता है और उसे दबानेकी पूरी चेष्टा की जाती है। तो भी साहित्य-में समाजके विरुद्ध चित्र स्थान पा लेते हैं। यह तभी होता है जब साहित्यमें व्यक्तित्वका विकास होने लगता है। अन्त-में उसीके द्वारा समाजकी मर्यादा भङ्ग हो जाती है। जब हम साहित्यमें समाजके विरुद्ध चित्र देखते हैं तब हमें यही बतलाया जाता है कि यह चित्र अनिष्टकर है। परन्तु यथार्थ बात यह है कि वह चित्र समाजके भविष्य विप्लवकी सूचना देता है। जिस श्रृङ्खलाके द्वारा समाज कालकी गतिको अवरुद्ध करना चाहता है उसकी भङ्गुरताका आभास हमें उसी चित्रसे मिलता है। समाजके पास धर्मका एक साँचा होता है। वह उसी जीवनको धार्मिक समझता है जो उस साँचेमें ढाला जाता

है। वह धर्मको जीवनसे पृथक् रखता है। उसके अनुसार धर्मकी उत्पत्ति जीवनसे नहीं होती, परन्तु जीवन ही धर्मके आधारपर निर्मित होता है। धर्मके अन्तर्गत होनेसे पितृ-स्नेह धार्मिक है, मनुष्यजीवनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेसे वह धार्मिक नहीं है। यदि समाजकी आज्ञा हो तो व्यक्तिको महाराज दशरथकी तरह पुत्र-स्नेह भी छोड़ना पड़ता है। अपनी धर्मपत्नीके अधिकारोंकी अवहेलना करना अधार्मिक है, परन्तु समाजकी मर्यादाकी रक्षाके लिए भगवान् रामचन्द्रको सीताजीका त्याग करना पडा। समाज का शासन अमान्य नहीं हो सकता। वही यथार्थमें धर्म माना जाता है। भारतवर्षमें धर्म ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य माना जाता है। परन्तु सच पूछो तो हिन्दू-धर्म कोई वस्तु नहीं है। हिन्दू-समाज ही सब कुछ है। धर्मका जो स्वरूप समाजसे निश्चित होता है, एक वही धार्मिक समझा जाता है। जब कोई व्यक्ति समाजसे अपना स्वत्व माँगता है तब समाज उसे अधार्मिक कहकर दबाना चाहता है। यही जब साहित्यमें प्रकट होता है तब समाजके पक्षपाती आदर्शकी दुहाई देकर उसको निर्मूल कर देना चाहते हैं। साहित्यमें आदर्शकी जो कल्पना की गई है वह बिलकुल मिथ्या है। साहित्यमें आदर्शकी सृष्टि हो नहीं सकती। किसी विशेष परिस्थितिमें यदि किसीने किसी प्रकारके जीवनको आदर्श माना हो तो क्या उसका वह परिमित जीवन अनन्त मानव-जीवनके लिए आदर्श हो सकता है? जब लोग साहित्यमें किसी आदर्शकी सृष्टिकर यह कहते हैं कि

वस्तुतः जीवन ऐसा होना चाहिए तब वे किसी विशेष परिस्थितिका वर्णन करते हैं, आदर्शका नहीं।

यह सच है कि साहित्यमें जिन चरित्रोंने अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया है उनके प्रति मनुष्यकी दृढ भक्ति है। हिन्दू-साहित्यमें राम, कृष्ण, अर्जुन, भीष्म, सीता, सावित्री आदिके चरित्र चिर-स्मरणीय बने रहेंगे। ये हम लोगोंके दैनिक जीवनमें मिल गये हैं। यदि ये हिन्दूजातिकी स्मृतिसे लुप्त कर दिये जाँय तो हिन्दू-धर्मका विशाल भवन ढह जाय। वेद और शास्त्रोंकी चर्चामें अल्पसंख्यक विद्वान् ही निरत रहते हैं। अधिकांश हिन्दुओंका धर्म-ज्ञान राम और कृष्णकी कथा ही तक है। कुछ लोग कदाचित् यह कहें कि उपासनाके केन्द्र होनेके कारण इन्हीं चरित्रोंपर हिन्दू धर्म स्थापित है। परन्तु उपासनाका कारण है इनके जीवनकी सम्पूर्णता। इनकी ईश्वरता ध्यान-गम्य है, परन्तु इनकी मनुष्य-लीला हृद्गम्य है। भगवान् कृष्णने अर्जुनको अपना जो रूप दिखलाया वह योगियोंके लिए है। सर्व-साधारण तो उनके मनुष्य-रूप हीपर मुग्ध हैं। अतएव साहित्यका एक-मात्र ध्येय मनुष्य-जीवनकी सम्पूर्णता है और वही साहित्य श्रेयस्कर है जिसमें मनुष्य-जीवनकी पूर्णतापर विचार किया गया है।

हिन्दी-साहित्यके भविष्यके विषयमें कहना हमारे लिये धृष्टतामात्र है। इतना तो हम निस्संकोच कह सकते हैं कि हिन्दी-साहित्य उन्नतिके ही पथपर अग्रसर हो रहा है। अतीतका

सिर्फ गौरव ही अवशिष्ट रहता है। जो क्षुद्रता होती है उसे काल नष्ट कर देता है। इसीसे अतीतसे तुलना करनेपर हमें वर्तमान गौरव-पूर्ण प्रतीत नहीं होता। परन्तु वर्तमानमें ही भविष्यका बीज छिपा रहता है। अतएव विद्वानोंकी दृष्टिमें हिन्दीका वर्तमान साहित्य अधिक मूल्यवान न हो तो भी यह सभीको स्वीकार करना पड़ेगा कि उसमें नव्य भारतकी आकांक्षायें व्यक्त हो रही हैं। इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, विज्ञान आदि विषयोंमें ऐसे ग्रन्थोंकी रचना अदृश्य हो रही है जिन्हें हम दूसरोंको देनेका तो साहस नहीं कर सकते किन्तु उनसे हम स्वयं अपने ज्ञानकी वृद्धि कर सकते हैं। कविताओंमे भी नवीनता और मौलिकता है। पण्डित वद्रीनाथ भट्टकी छोटी छोटी कवितायें और बाबू प्रेमचन्दजीकी छोटी छोटी कहानियां ऐसी नहीं हैं कि वे सिर्फ मासिक पत्रिकाओंमें ही पड़ी रहें। हिन्दीके भिन्न भिन्न मासिक पत्रोंमें ऐसे भी लेख निकलते हैं जिनसे लेखकोंकी चिन्ता-शक्ति प्रकट होती है। अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शीघ्र ही हिन्दी-साहित्यमें ऐसे ही ग्रंथ निकलने लगेंगे जिनसे विद्वानोंको भी परितोष होगा।
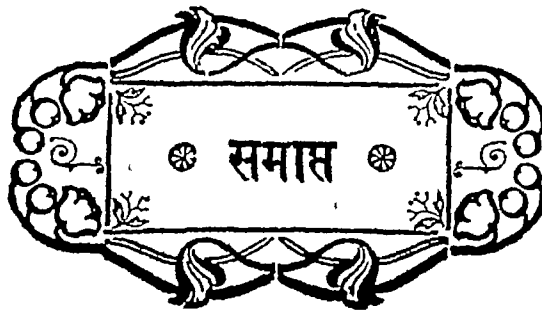
हिन्दी पुस्तक एजेन्सी माला

स्थायी ग्राहकोंके लिये नियम—

१—प्रत्येक व्यक्ति ॥) आने प्रवेश शुल्क जमाकर इस मालाका स्थायी ग्राहक बन सकता है। उक्त ॥) लौटाये नहीं जायंगे।

२—स्थायी ग्राहकोंको मालाकी प्रकाशित प्रत्येक पुस्तक पौन मूल्यमें मिल सकेगी। एकसे अधिक प्रतियां पौन मूल्यमें मंगा सकेंगे।

३—पूर्व प्रकाशित पुस्तकोंके लेने न लेनेका पूर्ण अधिकार स्थायी ग्राहकोंको होगा, पर सालभरमें जितनी पुस्तकें प्रकाशित होंगी, उनमेंसे कमसे कम ६) रु० की पुस्तकें प्रति वर्ष अवश्य लेनी होंगी।

४—पुस्तक प्रकाशित होते ही उसकी सूचना स्थायी ग्राहकोंके पास भेज दी जाती है। स्वीकृति मिलनेपर पुस्तक वी० पी० द्वारा सेवामें भेजी जाती है। जो ग्राहक वी० पी० नहीं छुड़ावेंगे उनका नाम स्थायी ग्राहकोंकी श्रेणीसे काट दिया जायगा। यदि उन्होंने वी० पी० न छुड़ानेका यथेष्ट कारण बतलाया और वी० पी० खर्च (दोनों ओरका) देना स्वीकार किया तो उनका नाम ग्राहक श्रेणीमें पुनः लिख लिया जायगा।

५—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी मालाके स्थायी ग्राहकोंको मालाकी नव-प्रकाशित पुस्तकोंके साथ अन्य प्रकाशकोंकी कमसे कम १०) रु० की लागतकी पुस्तकें भी पौन मूल्यमें दी जायंगी, जिनकी नामावली हर नव-प्रकाशित पुस्तककी सूचनाके साथ भेजी जाती है।

६—हमारा वर्ष विक्रमीय संवत्से आरम्भ होता है।

मालाकी विशेषतायें

१—सभी विषयोंपर सुयोग्य लेखकों द्वारा पुस्तकें लिखायी जाती हैं।

२—वर्तमान समयके उपयोगी विषयोंपर अधिक ध्यान दिया जाता है।

३—मौलिक पुस्तकें ही प्रकाशित करनेकी अधिक चेष्टा की जाती है।

४—पुस्तकोंको सुलभ और सर्वोपयोगी बनानेके लिये कमसे कम मूल्य रखनेका प्रयत्न किया जाता है।

५—गम्भीर और रुचिकर विषय ही मालाको सुशोभित करते हैं।

६—स्थायी साहित्यके प्रकाशनका ही उद्योग किया जाता है।

६—सेवासदन

लेखक उपन्यास-सम्राट् श्रीयुक्त "प्रेमचन्द"

हिन्दी-संसारका सबसे बड़ा गौरवशाली सामाजिक उपन्यास। यह हिन्दीका सर्वोत्तम, सुप्रसिद्ध और मौलिक उपन्यास है। इसकी खूबियोंपर बड़ी आलोचना और प्रत्यालोचना हुई है। पतित-सुधारका बड़ा अनोखा मन्त्र, हिन्दू-समाजकी कुरीतियां जैसे अनमेल विवाह, त्यौहारोंपर वेश्यानृत्य और उसका कुपरिणाम, पाश्चिमीय ढङ्गपर स्त्री-शिक्षाका कुफल, पतित आत्माओंके प्रति घृणाका भाव इत्यादि विषयोंपर लेखकने अपनी प्रतिभाकी वह छटा दिखायी है कि पढ़नेसे ही आनन्द प्राप्त हो सकता है। कुछ दिनोंतक सभी पत्रोंकी आलोचनाका मुख्य विषय यह उपन्यास रहा है। दूसरा संस्करण, मनोहर स्वदेशी कपड़ेकी सजिल्द पुस्तकका मूल्य २॥)

७—संस्कृत कवियोंकी अनोखी सूझ

लेखक पं० जनार्दन भट्ट एम०ए०

संस्कृतके विविध विषयोंके अनोखे भावपूर्ण उत्तमोत्तम श्लोकोंका हिन्दी भावार्थ सहित संग्रह। यह ऐसी खूबीसे लिखा गया है कि साधारण मनुष्य भी पढ़कर आनन्द उठा सके। व्याख्यानदाताओं, रसिकों और विद्यार्थियोंके बड़े कामकी पुस्तक है। दूसरा संस्करण, मूल्य ।ᅳ)

८—लोकरहस्य

लेखक उपन्यास-सम्राट् श्रीयुक्त बङ्किमचन्द्र चटर्जी

यह "हास्यरस" पूर्ण ग्रन्थ है। इसमें वर्तमान धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक त्रुटियोंका बड़े मजेदार भाव और भाषामें चित्र खींचा गया है। पढ़िये और समझ समझकर हँसिये। कई विषयोंपर ऐसी शिक्षा मिलेगी कि आप आश्चर्य्यमें पड़ जायगे। अनुवाद भी हिन्दीके एक प्रसिद्ध और अनुभवी हास्यरसके लेखककी लेखनीका है। बढ़िया एंटिक कागजपर छपी पुस्तकका मूल्य ॥ᅳ)

९—खाद

लेखक श्रीयुक्त मुख्तारसिंह वकील

भारत कृषिप्रधान देश है। कृषिके लिये खाद सबसे बड़ा आवश्यकीय पदार्थ है। बिना खादके पैदावारमें कोई उन्नति नहीं की जा सकती। यूरोपवाले खादके बदौलत ही अपने खेतोंमें दूनी चौगुनी पैदावार करते हैं। इसलिये इस पुस्तकमें खादोंके भेद तथा किन अन्नोंके लिये कौन सी खादकी आवश्यकता होती है इनका बड़ी उत्तमतासे वर्णन किया गया है, चित्रों द्वारा भली प्रकार दिखलाया गया है। इसे प्रत्येक कृषक तथा कृषिप्रेमियोंको अवश्य रखना चाहिये। मूल्य सचित्र और सजिल्दका १)

१०—प्रेम-पूर्णिमा

लेखक उपन्यास-सम्राट् श्रीयुक्त "प्रेमचन्द"

प्रेमचन्दजीकी लेखनीके सम्बन्धमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। जिन्होंने उनके 'प्रेमाश्रम' "सप्तसरोज" और "सेवासदन" का रसास्वादन किया है उनके लिये तो कुछ लिखना व्यर्थ है। प्रत्येक गल्प अपने २ ढङ्गकी निराली है। जमींदारोंके अत्याचारका विचित्र दिग्दर्शन कराया गया है। भाषा और भावकी उत्कृष्टताका अनूठा सग्रह देखना हो तो इस ग्रन्थको अवश्य पढ़िये। इसमें श्रीयुक्त "प्रेमचन्द"जीकी १५ अनूठी गल्पोंका सग्रह है। बीच बीचमें चित्र भी दिये गये हैं। खादीकी सुन्दर सजिल्द पुस्तकका मूल्य २)

११—आरोग्यसाधन

लेखक म० गांधी

बस, इसे महात्माजीका प्रसाद समझिये। यदि आप अपने शरीर और मनको प्राकृत रीतिके अनुसार रखकर जीवनको सुखमय बनाना चाहते हैं, यदि आप मनुष्य-शरीरको पाकर ससारमें आनन्दके साथ कुछ कीर्ति कमाना चाहते हैं तो महात्माजीके अनुभव किये हुए तरीकेसे रहकर अपने जीवनको सरल, सादा और स्वाभाविक बनाइये और रोगमुक्त होकर आनन्दसे जीवन बिताइये। तीसरा सस्करण, १३० पृष्ठकी पुस्तकका दाम केवल ।~)

१२—भारतकी साम्पत्तिक अवस्था

लेखक श्रीयुक्त राधाकृष्ण झा, एम० ए०

यदि भारतकी आर्थिक अवस्था, यहाके वाणिज्य-व्यापारके रहस्यों, कृषिकी दुर्व्यवस्था और मालगुजारी तथा अन्यान्य टैक्सोंकी भरमारका रहस्य जानना चाहते हैं, यदि आप यहाका उत्पन्न कच्चा माल और वह कितनी कितनी संख्यामें विलायतको ढोया चला जाता है, उसके बदलेमें हमें कौन कौनसा माल दिया जाता है, आने और जानेवाले मालोंपर किस नीयतसे कर बैठाया जाता है, यहां प्रत्येक वर्ष कहीं न कहीं अकाल क्यों पड़ता है, हम दिनपर दिन क्यों कौड़ी कौड़ीके मोहताज हो रहे हैं, इत्यादि बातोंको जानना चाहते हैं तो इस पुस्तकको एक बार अवश्य पढ़ें। यह पुस्तक साहित्यसम्मेलनकी परीक्षामें है। ६५५ पृष्ठकी खादीकी सुन्दर सजिल्द पुस्तकका मूल्य ४॥)

१३—भाव चित्रावली

चित्रकार श्रीधीरेन्द्रनाथ गङ्गोपाध्याय

इस पुस्तकमें एक ही सज्जनके विविध भावोंके १०० रंगीन और सादे चित्र दिखलाये गये हैं। आप देखेंगे और आश्चर्य करेंगे और कहेंगे कि ऐं! सब चित्रोंमें एक ही आदमी! गङ्गोपाध्याय महाशयने अपनी इस कलासे समाज और देशकी बहुतसी कुरीतियोंपर बड़ा जबर्दस्त कटाक्ष किया है। चित्रोंके देखनेसे मनोरञ्जनके साथ साथ आपको शिक्षा भी मिलेगी। खादीकी सजिल्द पुस्तकका मूल्य ४)

१४—राम बादशाहके छः हुक्मनामे

स्वामी रामतीर्थजीके छः व्याख्यानोंका संग्रह उन्हींकी जोरदार भाषामें। स्वामीजीके ओजस्वी और शिक्षाप्रद भाषणोंके बारेमें क्या कहना है, जिसने अमरीका, जापान और यूरोपमें हलचल मचा दी थी। इन व्याख्यानोंको पढ़कर प्रत्येक भारतवासीको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। उर्दूके शब्दोंका फुटनोटमें अर्थ भी दिया गया है। स्वामीजीकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंके तीन चित्र भी हैं। पुस्तक बढ़िया एंटिक कागजपर छपी है। मूल्य सुन्दर खादीकी सजिल्द पुस्तकका १।)

१५—मैं नीरोग हूं या रोगी

ले० प्रसिद्ध जलचिकित्सक डाक्टर लुईकूने

यदि आप स्वस्थ रहकर आनन्दसे जीवन बिताना, डाक्टरों, वैद्यों और हकीमोंके फन्देसे छुटकारा पाना, प्राकृतिक नियमानुसार रहकर सुख तथा शान्तिका उपभोग करना चाहते हैं तो इस पुस्तकको पढ़िये और लाभ उठाइये। जर्मनीके प्रसिद्ध डा० लुईकूनेकी इस पुस्तकका मूल्य ।/

१६—रामकी उपासना

ले० रामदास गौड़ एम०ए०

स्वामी रामतीर्थसे कौन हिन्दू परिचित न होगा। उनके उपदेशोंका श्रवण और मनन लोग बड़ी ही श्रद्धाभक्तिसे करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक उपासनाके विषयमें लिखी गयी है। उपासनाकी आवश्यकता, उसके प्रकार, परब्रह्ममें मनको लीन करना, सच्ची उपासनाके बाधक और सहायक, सच्चे उपासकोंके लक्षण आदि बातें बड़ी ही मार्मिक और सरल भाषामें लिखी गयी हैं। हिन्दू गृहस्थोंके लिये पुस्तक बड़ी ही उपयोगी है। सुन्दर एण्टिक कागजपर छपी है। कवरपर उपासनाकी मुद्रामें स्वामी रामतीर्थजीका एक चित्र भी है। ४८ पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य ।/

१७—बच्चोंकी रक्षा

ले० डाक्टर लुईकूने

डाक्टर लुईकूने जर्मनीके प्रसिद्ध डाक्टर हैं। आपने अपने अनुभवोंसे सब बीमारियोंके दूर करनेका प्राकृतिक उपाय निकाला है। आपकी जल-चिकित्सा आजकल घर घरमें प्रचलित है। इस पुस्तकमें डाक्टर साहबने यह दिखलाया है कि बच्चोंकी रक्षाकी उचित रीति क्या है और उसके अनुसार न चलनेसे हम अपनी सन्ततिको किस गर्तमें गिरा रहे हैं। स्त्रियोंके लिये विशेष उपयोगी है। विद्यालयोंकी पाठ्य पुस्तकोंमें रखने योग्य है। सुन्दर एण्टिक कागजके ४८ पृष्ठोंकी पुस्तकका मूल्य ।-)

१८—प्रेमाश्रम

ले० उपन्यास सम्राट् श्रीयुत प्रेमचन्दजी

जिन्होंने प्रेमचन्दजीकी लेखनीका रसास्वादन किया है उनके लिये इसकी प्रशंसा करना व्यर्थ है। पुस्तक क्या है, वर्तमान दशाका सच्चा चित्र है। किसानोंकी दुर्दशा, जमींदारोंके अत्याचार, पुलिसके कारनामे, वकीलों और डाक्टरोंका नैतिक पतन, धर्मके ढोंगमें सरलहृदया स्त्रियोंका फँस जाना, स्वार्थसिद्धिके कलुषित मार्ग, देशसेवियोंके कष्ट और उनके पवित्र चरित्र, सच्ची शिक्षाके लाभ, गृहस्थीके संकट, साध्वी स्त्रियोंका चरित्र,सरकारी नौकरीका दुष्परिणाम आदि भावोंको लेखकने ऐसी खूबीसे चित्रित किया है कि पढ़ते ही बनता है, एक बार शुरू करनेपर बिना पूरा किये छोड़नेको दिल नहीं चाहता। ठूंस ठूंस कर मैटर भर देनेपर भी पृष्ठ संख्या ६५० हो गयी। खादीकी जिल्दका ३॥) रेशमी ४)

१९—पंजाबहरण

ले० पं० नन्दकुमारदेव शर्मा

यह सिक्खोंके पतनका इतिहास है। १९ वीं सदीके आरम्भमें सिक्ख-साम्राज्य महाराज रणजीतसिंहके प्रतापसे समृद्धशाली हो गया था। उनके मरते ही आपसकी फूट, कुचक्र, अंग्रेजोंके विश्वाघातसे उसका किस प्रकार पतन हुआ। जो अंग्रेज जाति सभ्यताकी डींग हांकती है, उसने अपने परम प्रिय मित्र महाराज रणजीतसिंहके परिवारके साथ किस घातक नीतिका व्यवहार किया इसका वास्तविक दिग्दर्शन इस पुस्तकसे होता है। इससे अंग्रेजोंके सच पराक्रमका भी पूरा पता चलता है। जो अंग्रेज जाति आज गली गली ढिंढोरे पीट रही है कि "हमने भारतको तलवारके बल जीता है" उनके सारे पराक्रम चिलियानवालाके युद्धमें लुप्त हो गये थे और यदि सिक्खोंने मिलकर एक बार उसी प्रकार और हराया होता तो शायद ये लोग डेराडण्डा लेकर कूच ही कर गये होते। पुस्तक बड़ी ओजसे लिखी गयी है। मोटे कागजपर २५० पृ० का मूल्य केवल २)

२०—भारतमें कृषिसुधार

ले० प्रो० दयाशंकर एम० ए०

प्रस्तुत पुस्तकमें लेखकने बड़ी खोजके साथ दिखलाया है कि भारतकी गरीबीका क्या कारण है, कृषिका अधःपतन क्यों हुआ है, जिसके फलस्वरूप भारत परतन्त्रताकी शृंखलामें जकड़ गया। अन्य देशोंकी तुलनामें यहांकी पैदावारकी क्या अवस्था है और उसमें किस तरह सुधार किया जा सकता है। सरकारका क्या धर्म है और वह उसका किस तरह प्रतिपालन कर रही है, किस प्रकार प्रजाकी उन्नतिके मार्गमें कांटे बिछाये जा रहे हैं इत्यादि बातोंका दिग्दर्शन लेखकने बड़ी मार्मिक भाषामें दृढ़तर प्रमाणोंके साथ किया है। पुस्तक अपने ढंगकी निराली है और बड़ी ही उपादेय है। २५० पृष्ठकी सचित्र पुस्तकका मूल्य १॥)

२१—देशभक्त मैजिनीके लेख

भूमिका ले० दैनिक "आज" के सम्पादक

बाबू श्रीप्रकाश बी० ए० एम० एल० बी० बेरिस्टर-ऐट-ला

इटलीका इतिहास पढ़नेवालोंको भलीभांति विदित है कि १८ वीं सदीमें इटलीकी क्या दशा थी। पर‍राजतन्त्रके दमनचक्रमें पड़कर इटली घोरे यातनायें भोग रहा था। न कोई स्वतन्त्रापूर्वक लिख सकता था और न बोल सकता था। कहनेका मतलब यह है कि भारतकी वर्त्तमान दशा इटलीकी उस समयकी दशासे ठीक मिलती-जुलती है। इटली एकदम निर्जीव हो गया था। ऐसी ही दशामें देशभक्त मैजिनीने अपने लेखोंका शंखनाद किया और नवयुवकोंको चेतावनी दी कि उठो, आलस्यको त्यागो, माता वसुन्धरा बलिदान चाहती है। प्रत्येक नवयुवकके शरीरमें स्वतन्त्रताकी प्राप्त करनेकी ज्योति जग उठी। ग्रन्थके अन्तमें संक्षेपमें मैजिनीका जीवनचरित भी दिया गया है। अनुवादक पण्डित छविनाथ पाण्डेय बी० ए०, एल० एल० बी०। पृष्ठसंख्या २६० मूल्य केवल २)

२२—गोलमाल

जिन लोगोंने "चौबेका चिट्ठा" और "गोबर गणेशसंहिता" पढ़े हैं, वे गोलमालके मर्मको भलीभांति समझ सकते हैं। रा० ब० काली प्रसन्न घोषने बंगलाके 'भ्रान्ति विनोद' में समाजमें प्रचलित कुछ बुराइयोंकी—जिसे वर्तमान समाजने प्रायः अनिवार्य और क्षम्य मान लिया है—मार्मिक भाषामें चुटकीली है। प्रत्येक निबन्ध अपने ढंगका निराला है। 'रसिकता और रसीली' बातोंसे लेकर 'दिगन्त मिलन' तक समाजकी बुराइयोंकी आलोचनासे भरा है। उसी भ्रान्ति-विनोदका यह गोलमाल हिन्दी अनुवाद है। २०० पृष्ठ, मूल्य १≈)

२३—१८५७ ई० के गदरका इतिहास

ले० पण्डित शिवनारायण द्विवेदी

सिपाहीविद्रोह क्यों हुआ? यह प्रश्न अभीतक प्रत्येक भारत-वासीके हृदयको आन्दोलित कर रहा है। कोई इसे सिपाहियोंका क्षणिक जोश, कोई सिपाहियोंकी बेजड़ बुनियाद, धर्मभीरुता और कोई इसे राजनीतिक कारण बतलाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक अनेक अंग्रेज इतिहासज्ञोंकी पुस्तकोंकी गवेषणापूर्ण छानबीनके बाद लिखी गयी है। पूरे प्रमाणसहित इसमें दिखलाया गया है कि सिपा-हियोंकी क्रान्तिके लिये अंग्रेज अफसर पूर्णत. दोषी हैं और यदि उन्होंने चेष्टा की होती तो लार्ड डलहौजीकी कुटिल और दोषपूर्ण नीतिके रहते हुए भी इतना रक्तपात न हुआ होता। प्रस्तुत पुस्तकसे इस बातका भी पता लगता है कि इसरक्तपातकी भीषणता बढानेमें अंग्रेजोंने भी कोई बात उठा नहींरखी थी। प्रथम भागके सजिल्द प्रायः ६०० पृष्ठोंकी पुस्तकका मूल्य ३॥) द्वितीय भागकी सजिल्द प्रायः ८०० पृष्ठका मूल्य ४॥)

२४–भक्तियोग

ले० श्रीयुक्त अश्विनीकुमार दत्त

कौन भगवान्‌की प्रेमसे सेवा नहीं करना चाहता ? कौन भगवद्-भक्तिके रसका आनन्द नहीं लेना चाहता ? आदर्श भक्तोंके जीवनका रहस्य कौन नहीं जानना चाहता ? हृदयकी साम्प्रदायिक संकीर्णताको त्यागकर, सुन्दर मनोहर दृष्टान्तोंके साथ साथ, धर्मशास्त्रों और उच्च कोटिके विद्वानों, भक्तों और महात्माओंके अनुभवोंसे भक्तिका रहस्य जाननेके लिये इस ग्रन्थका आदिसे अन्ततक पढ़ जाना आवश्यक है। ईश्वरभक्तोंके लिये हिन्दी साहित्यमें अपने ढङ्गका यह एक अपूर्व ग्रन्थ है। पृष्ठ २६८। मूल्य सजिल्द १॥)

२५–तिब्बतमें तीन वर्ष

ले० जापानी यात्री श्रीइकाई कावागुची

तिब्बत एशिया खंडका एक महत्वपूर्ण अङ्ग है, परन्तु वहांके निवासियोंकी धर्मांधता तथा शिक्षाके अभावके कारण अभीतक वह खण्ड संसारकी दृष्टिसे ओझल ही था, परन्तु अब कई यात्रियोंके उद्योग और परिश्रमसे वहांका बहुत कुछ हाल मालूम हो गया है। सबसे प्रसिद्ध यात्री कावागुचीकी यात्राका विवरण हिन्दी-भाषा-भाषियोंके सामने रक्खा जाता है। इस पुस्तकमें आपको ऐसी भयानक घटनाओंका विवरण पढ़नेको मिलेगा जिनका ध्यान करने मात्रसे ही कलेजा कांप उठता है, साथ ही ऐसे रमणीक स्थानोंका चित्र भी आपके सामने आयेगा जिनको पढ़कर आनन्दके सागरमें लहराने लगेंगे। दार्जिलिङ्ग, नेपाल, हिमालयकी बर्फीली चोटियां, मानसरोवरका रमणीय दृश्य तथा कैलाश आदिका सविस्तर वर्णन पढ़कर आप ही आनन्दलाभ करेंगे। इसके सिवा वहाके रहन-सहन, विवाह-शादी, रीति-रिवाज एवं धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक अवस्थाओंका भी पूर्ण हाल विदित हो जायगा। ५२५ पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य २॥) सजिल्द ३॥=)

२६—संग्राम

ले० उपन्याससम्राट् श्रीयुक्त प्रेमचन्दजी

मौलिक उपन्यास एवं कहानियाँ लिखनेमें प्रेमचन्दजीने हिन्दीमें वह नाम पाया है जो आजतक किसी हिन्दी-लेखकको नसीब नहीं हुआ उनके लिखे उपन्यास 'प्रेमाश्रम', एवं 'सेवासदन' तथा 'सप्तसरोज' 'प्रेमपूर्णिमा' और 'प्रेमपचीसी' आदि पुस्तकोंकी सभी पत्रोंने मुक्तकंठसे प्रशंसा की है।

इन उपन्यासों और कहानियोंको रचकर उन्होंने हिन्दी-संसारमें नवयुग उपस्थित कर दिया है, नये तथा पुराने लेखकोंके सामने भाषाकी प्रौढ़ता मौलिकता, विषयकी गम्भीरता और रोचकताका आदर्श रख दिया है।

उन्हीं प्रेमचन्दजीकी कुशल लेखनी द्वारा यह 'संग्राम' नाटक लिखा गया है। यों तो उनके उपन्यासोंमें ही नाटकका मजा आ जाता है फिर उनका लिखा नाटक कैसा होगा यह बतानेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। प्रस्तुत नाटकमें मनोभावोंका जो चित्र खींचा है वह आप पढ़कर ही अन्दाजा लगा सकेंगे। बाढ़िया-एन्टिक कागजपर प्रायः २७५ पृष्ठोंमें छपी पुस्तकका मूल्य केवल १।॥)

२७—चरित्रहीन

ले० श्रीयुक्त शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

बंगालमें श्रीयुत शरत बाबूके उपन्यास उच्च कोटिके समझे जाते हैं। तथा उनके लिखे उपन्यासोंका बंगालमें बड़ा आदर है। उनके लिखे उपन्यास पढ़ते समय आंखोंके सामने घटना स्पष्ट रूपसे भासने लगती है। युवा पुरुष बिना पूर्वदेख रेखके किस तरह चरित्रहीन हो बैठतेहैं, सच्चा स्वामिभक्त सेवक किस तरह दुर्व्यसनके पंजोंसे अपने मालिकको छुड़ा सकता है। इसके अतिरिक्त पति-पत्नीका प्रेम, पतिव्रताकी पति सेवा और विधवा स्त्रिया दुष्टोंके बहकावेमें पड़कर कैसे अपने धर्मकी रक्षा कर सकती है, इन सब बातोंका इसमें पूर्णरूपसे दिग्दर्शन कराया गया है। पृष्ठ ६६४ जिल्दसहित मूल्य ३।) रेशमी ३॥)

३२-रागिणी

ले०: मराठीके प्रसिद्ध उपन्यासकार

श्रीयुक्त वामन मल्हारराव जोशी एम० ए०
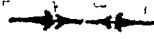
अनुवादक--हिन्दी नवजीवनके सम्पादक तथा हिन्दीके प्रसिद्ध लेखक

श्रीयुक्त पं० हरिभाऊ उपाध्याय
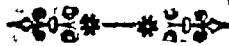
रागिणी है तो उपन्यास, परन्तु इसे केवल उपन्यास कहनेसे सन्तोष नहीं होता। क्योंकि आजकल उपन्यासोंका काम केवल मनोरञ्जन और मनबहलाव होता है। इसको तर्क-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र भी कह सकते हैं। इसमें जिज्ञासुओंके लिये जिज्ञासा, प्रेमियोंके लिये प्रेम और अशान्त जनोंके लिये विमल शान्ति मिलती है। वैराग्य खण्डका पाठ करनेसे मोह-माया और जगत्की उलझनोंसे निकलकर मनमें स्वाभाविक ही भक्ति-भाव उठने लगता है। देशभक्तिके भाव भी स्थान स्थानपर वर्णित हैं। लेखककी कल्पना-शक्ति और प्रतिभा पुस्तकके प्रत्येक वाक्यसे टपकती है। सभी पात्रोंकी पारस्परिक बातें और तर्क पढ पढकर मनोरञ्जन तो होता ही है, बुद्धि भी प्रखर हो जाती है। भारतीय साहित्यमें पहले तो 'मराठी'का ही स्थान ऊँचा है फिर मराठी-साहित्यमें भी रागिणी एक रत्न है। भाषा और भावकी गम्भीरता सराहनीय है। उपाध्यायजीके द्वारा अनुवाद होनेसे हिन्दीमें इसका महत्व और भी बढ़ गया है। लेखककी लेखनशैली, अनुवादककी भाषा-शैली जैसी सुन्दर है, आकार भी वैसा ही सुन्दर, छपाई वैसी ही साफ है। ऐसी सर्वांगपूर्ण सुन्दर पुस्तक आपके देखनेमें कम आवेगी। लगभग ८०० पृष्ठकी सजिल्द पुस्तकका मूल्य ३) और सुन्दर रेशमी सुनहली जिल्दका ४)

३३—प्रेम-पचीसी

लेखक— उपन्यास-सम्राट् श्रीयुक्त प्रेमचन्दजी

प्रेमचन्दजीका नाम ऐसा कौन साहित्य-प्रेमी है जो न जानता हो। जिस प्रेमाश्रमकी धूम दैनिक और मासिक पत्रोंमें प्रायः बारह महीनेसे मची हुई है उसी प्रेमाश्रमके लेखक बाबू प्रेमचन्दजीकी रचनाओंमेंसे एक यह भी है। 'प्रेमाश्रम', 'सप्त सरोज','प्रेम पूर्णिमा' और 'सेवासदन' आदि उपन्यासों और कहानियोंका जिसने रसास्वादन किया है वह तो इसे बिना पढ़े रह ही नहीं सकता। इसमें शिक्षाप्रद मनोरञ्जक २५ अनूठी कहानियां हैं। प्रत्येक कहानी अपने अपने ढङ्गकी निराली है। कोई मनोरञ्जन करती है, तो कोई सामाजिक कुरीतियोंका चित्र चित्रण करती है। कोई कहानी ऐसी नहीं है जो धार्मिक अथवा नैतिक प्रकाश न डालती हो। पढ़नेमें इतना मन लगता है कि कितना भी चिन्तित कोई क्यों न हो प्रफुल्लित हो जाता है। भाषा बहुत सरल है विद्यार्थियोंके पढ़ने योग्य है। ३८४ पृ० की पुस्तकका खद्दरकी जिल्द सहित मूल्य २।)—रेशमी जिल्दका २॥)

३४—व्यावहारिक पत्र-बोध

ले० पं० लक्ष्मणप्रसाद चतुर्वेदी

आजकलकी अंग्रेजी शिक्षामें सबसे बड़ा दोष यह है कि प्रायः अंग्रेजी शिक्षित व्यवहार-कुशल नहीं होते। कितने तो शुद्ध बाकायदा पत्र लिखना तक नहीं जानते। उसी अभावकी पूर्तिके लिये यह पुस्तक निकाली गयी है। व्यापारिक पत्रोंका लिखना, पत्रोंका उत्तर देना, प्रार्थनापत्रोंका बाकायदा लिखना तथा आफिसियल पत्रोंका जवाब देना आदि दैनिक जीवनमें काम आनेवाली बातें इस पुस्तकद्वारा सहज ही सीखी जा सकती हैं। व्यापारिक विद्यालय (Commercial Schools) की पाठ्य-पुस्तकोंमें रहने लायक यह पुस्तक है। अन्यान्य विद्यालयोंमें भी यदि पढ़ायी जाय तो लड़कोंका बड़ा उपकार हो। विद्यार्थियोंके सुभीतेके लिये ही लगभग १२५ पृ० की पुस्तककी कीमत ॥=) रखी गयी है।

३५—रूसका पञ्चायती-राज्य

ले० प्रोफेसर प्राणनाथ विद्यालंकार

जिस बोल्शेविज्मकी धूम इस समय संसारमें मची हुई है, जिन
विकोंका नाम सुनकर सारा यूरोप कांप रहा है उसीका यह इतिहास
जारके अत्याचारोंसे पीड़ित प्रजा जारको गद्दीसे हटानेमें कैसे समर्थ हुई,
दूर और किसानोंने किस प्रकार जार-शाहीको उलटनेमें काम किया,
उनकी क्या दशा है इत्यादि बातें जाननेको कौन उत्सुक नहीं है ? प्रजा
राज्यकी महत्ताका बहुत ही सुन्दर वर्णन है। प्रजाकी मर्जी बिना राज्य
चल सकता और रूस ऐसा प्रबल राष्ट्र भी उलट दिया जा सकता है,
चार और अन्यायका फल सदा बुरा होता है इत्यादि बातें बड़े सरल
नवीन तरीकेसे लिखी गयी हैं। लेनिनकी बुद्धिमत्ता और कार्यशैली प
दांतों तले अँगुली दबानी पड़ती है। किस कठिनता और अध्यवसायसे
रूसमें पचायती राज्य स्थापित किया इसका विवरण पढकर मुर्दा दिल भी
उछलने लगता है। १३६ पृ० की पुस्तकका मूल्य केवल ॥।/ मात्र रखा गया

३६—टालस्टायकी कहानियां

स० श्रीयुक्त प्रेमचन्दजी

यह महात्मा टालस्टायकी संसार-प्रसिद्ध कहानियोंका हिन्दी अनुवाद है
यूरोपकी कोई ऐसी भाषा नहीं है जिसमें इनका अनुवाद न हो गया हो
इन कहानियोंके जोड़की कहानिया सिवा उपनिषदोंके और कहीं नहीं हैं
इनकी भाषा जितनी सरल, भाव उतने ही गम्भीर हैं। इनका सर्वप्रधान
यह है कि ये सर्व-प्रिय हैं। धार्मिक और नैतिक भाव कूट कूटकर भरे हैं
विद्यालयोंमें छात्रोंको यदि पढ़ाई जायँ तो उनका बड़ा उपकार हो। किसानों
भी इनके पाठसे बड़ा लाभ होगा। पहले भी कहींसे इनका अनुवाद निक
था परन्तु सर्वप्रिय न होनेके कारण उपन्यास सम्राट् श्रीयुक्त प्रेमचन्दज
द्वारा सम्पादित कराकर निकाली गयी हैं। सर्वसाधारणके हाथोंतक यह पुस्त
पहुंच जाय इसीलिये मूल्य केवल १) रक्खा गया है।